वैदिक उदात्तभावनाएँ

डॉ० प्रह्लादकुमार

वैदिक उदात्तभावनाएँ

(Sublime Thoughts of the Vedic Seers)

डॉ० प्रह्लाद कुमार,
प. गि. द. एँ. वैदिकमहाविद्यालय (सान्ध्य),
दिल्लीविश्वविद्यालय, दिल्ली ।

प्रकाशन

मूल्य अजिल्द : पांच रुपये
" सजिल्द : सात रुपये
प्रथम संस्करण--१९७५ ई०

प्रकाशक तथा मुद्रक : राजेन्द्र कुमार सानन
युगीन प्रकाशन एवं युगीन मुद्रणालय,
१७३५/३ कोटला मुबारकपुर, नई दिल्ली-३ ।

लुप्त वैदिक परम्परा को पुनरुज्जीवित कर उसके मूल
उदात्त दर्शन के अन्वेषक एवं प्रतिष्ठापक

महर्षि दयानन्द की पुण्य स्मृति में

(आर्यसमाज स्थापना शताब्दी महापर्व पर)

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।। (अथ० १६।७१।१)

मैंने अभीष्ट वरों को देने वाली वेदमाता का स्तवन किया है। वेदमाता विद्याभ्यास में लगे विप्रों को प्रेरणा प्रदान करने वाली तथा पवित्र करने वाली है।यह वेदमाता हमें आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन, एवं ज्ञान-विज्ञान का तेज प्रदान करने वाली हो तथा हमारे विज्ञानमय कोश में स्थिररूप से सुप्रतिष्ठित रहे।

अनुक्रमणिका

संक्षेप

अथ०	अथर्ववेदसंहिता
ईश०	ईशावास्योपनिषद्
ऋ०	ऋग्वेदसंहिता
ऐत०	ऐतरेयोपनिषद्
ऐत० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
कठ०	कठोपनिषद्
केन०	केनोपनिषद्
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्
तैत्ति०	तैत्तिरीयोपनिषद्
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
बृह०	बृहदारण्यकोपनिषद्
मनु०	मनुस्मृति
मुण्ड०	मुण्डकोपनिषद्
यजु०	वाजसनेयियजुर्वेदसंहिता
वै० सं०	वैदिकसंग्रह
शत० ब्रा०	शतपथब्राह्मण
श्वेत०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
हितो०	हितोपदेश

प्राक्कथन

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में वर्ग-संघर्ष, वर्वरता, स्त्री-अपहरण, व्यभिचार, भ्रूणहत्या, चोरी-डकैती, धोखाधड़ी, माँस-भक्षण तथा सुरापान आदि बातों को सिद्ध करने का प्रयास किया है।* किन्तु वेद का ग्रनुशीलन इन बातों को सर्वथा मिथ्या प्रमाणित कर देता है। सब प्राणियों में समान आत्मतत्त्व के दर्शन द्वारा विश्वात्मा व ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले, ऋत ग्रौर सत्य के पुजारी, वर्णाश्रम व्यवस्था की पद्धति पर समाज की संरचना करने वाले ऋषिजन किसी प्रकार की संकीर्णता, जातिवाद अथवा वर्ग-संघर्ष का षड्यंत्र रचें ग्रथवा दुराचारों की शिक्षा दें व उनमें प्रवृत्त हों—इस प्रकार का विचार कथमपि बुद्धिगम्य या तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। वेद में तो मानव के यथार्थ विकास के लिए, उसके शारीरिक और आत्मिक वल के लिए अत्यन्त उदात्त आचार-शास्त्र का निरूपण है। प्रस्तुत पुस्तक में संकलित वैदिक उदात्त विचारों पर सरसरी नज़र डालने से ही वैदिक दर्शन की उदात्तता ग्रौर यथार्थता तथा वैदिक धर्म की सार्वदेशिकता ग्रौर सार्वकालिकता स्पष्टतः प्रकट हो जाती है।

प्रस्तुत सामग्री का संकलन मूलतः 'वैदिक ग्राचार-समीक्षा' नामक ग्रन्थ की रचना के लिये किया गया था। किंतु उक्त ग्रन्थ समीक्षात्मक व विश्लेषणात्मक होने से समयसाध्य है।

---

*द्र० (i) Religion des Veda, (Berlin 1894)

(ii) History of Indian Literature Vol. I,, Pt. I.—Winternitz.

किंतु शताब्दी के अवसर पर वेद के श्रद्धालु सज्जनों के उपहारार्थ कुछ प्रकाशित करने का परामर्श हुआ—आदरणीय अग्रज डॉ० प्रशान्त कुमार वेदालंकार (वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, हंसराज कॉलेज, दिल्ली) द्वारा। उनसे मुझे सदा ही अध्यवसाय तथा कर्मनिष्ठा की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा उचित मार्ग-दर्शन होता रहता है। मैं उनके सम्मुख श्रद्धा से नत हूँ। मेरी प्रिय पत्नी श्रीमती सुमेधा (प्राध्यापिका, हिन्दी-विभाग भारतीमहिलाकॉलेज, दिल्ली) ने सोत्साह मेरे साथ बैठ कर दो ही दिन में अस्तव्यस्त सामग्री को व्यवस्था प्रदान की तथा अनेक उपयोगी टिप्पणियों और सुझावों से कृतार्थ किया। वस्तुत: विदुषी पत्नी के सहयोग के बिना यह कार्य सम्पन्न ही नहीं होता। उसके प्रति आभार प्रकट करना तो औपचारिकता ही होगी। गुरुवर डॉ० कृष्णलाल (रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) द्वारा रचित 'वैदिक-संग्रह' से अनेक टिप्पणियों को यथावत् ग्रहण कर लिया गया है। मैं सदैव उनका ऋणी रहूँगा। इसके अतिरिक्त अनेक वैदिक विद्वानों के ग्रंथों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उपयोग इसमें हुआ है। लेखक उनका कृतज्ञ है। युगीन प्रकाशन के संस्थापक-व्यवस्थापक मित्रवर श्री राजेन्द्र कुमार ने इस पुस्तक को केवल चार दिन में मुद्रित एवं प्रकाशित करवाने का श्लाघनीय कार्य किया है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

प. गि. द. एँ. वैदिक महाविद्यालय,
दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

प्रह्लाद कुमार

तिथि : पौषवदि ६, सम्वत् २०३२
(२४ दिसम्बर, १९७५)

वैदिक उदात्तभावनाओं की भूमिका

प्रकृति और शरीर का खेल है यह 'संसार'। किन्तु यदि जड़ प्रकृति के ही रूपान्तर का नाम जीवन है तो चेतन और जड़ वस्तुओं में अथवा चिंतनशील मानव तथा बुद्धिशून्य पशु में उतना ही भेद मानना पड़ेगा जितना कुर्सी और मेज़ में। इसी प्रकार यदि इस दृश्यमान शरीर से पृथक् सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न तथा ज्ञान के लक्षण वाली कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती तो दुःखी सुखी मनुष्यों के दुःख-निवारण और सुख–प्राप्ति की ऊहापोह भी व्यर्थ है। वैदिक दर्शन बतलाता है कि प्रकृति की अपनी सत्ता है, किंतु वही अपने में चरमसत्ता नहीं है। उसके मूल में एक चेतन सत्ता है 'आत्मा' = 'विश्वात्मा' व 'परमात्मा'। इसी प्रकार इस पार्थिव शरीर व जीव के पीछे भी चेतन एवं सुख दुःख आदि लिंगों से युक्त एक सत्ता है 'आत्मा' = जीवात्मा। सृष्टिचक्र में वर्तमान शाश्वत कारणकार्यशृंखला (Law of Causation) तथा भौतिक जगत् में विद्यमान कुछ अटल नियमों (Laws of Nature) पर तनिक गहराई से विचार करने पर यह भी सहज प्रतीत होता है कि इस सृष्टि की रचना कुछ शाश्वत एवं अटल नियमों के आधार पर सोद्देश्य बुद्धिपूर्वक हुई है। यह कार्य जड़ प्रकृति का नहीं। न ही सृष्टि की निर्मात्री तथा उसकी नियामिका इस शक्ति को जीवात्मा ही माना जा सकता है। क्योंकि शरीरी अनेक हैं, सीमित शक्ति वाले हैं, सीमित ज्ञान वाले हैं तथा ये समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त नहीं हो सकते। इसके लिए तो एक विभु आत्मा = विश्वात्मा की सत्ता आवश्यक प्रतीत होती है।

यदि चर्मचक्षुओं को गोचर यह शरीर और प्रकृति ही सब कुछ है एवं इस सृष्टि का संचालन बिना किसी निश्चित नियम के उद्देश्य-

हीन हो रहा है तब तो 'खाओ-पीओ मौज़ उड़ाओ' का सिद्धांत ही अनुकरणीय हो जाता है। उस अवस्था में जीवन के उदात्तीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। किंतु यह सहज प्रतीत होता है कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् के मूल में कोई ध्रुवतत्त्व अवश्य है। यह प्रत्यक्ष दृश्यमान ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से, संपूर्ण भौतिकप्रपंच प्राणी-समूह से और फिर जड़-चेतनरूप उभयविध सृष्टि किसी परात्पर सूत्र—'सूत्रस्य सूत्रम्' (अथ. १।८।३८) से परस्पर आबद्ध है। चर्मचक्षुओं एवं तर्कादि से अगोचर इस तत्त्व का मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने अन्तःप्रत्यक्ष द्वारा दर्शन प्राप्त किया—

अन्तरिच्छन्ति तं जनं रुद्रं परो मनीषया। (ऋ० ८।७२।३)
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा यत्। (यजु० ३२।८)

मनुष्य के सम्मुख सृष्टि का जो अनन्त विस्तार है वह उसी सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता विश्वात्मा की कृति है। सृष्टिकर्ता परमात्मा की यह जड़-चेतन सृष्टि उसकी माया या छाया नहीं अपितु उसके कुछ शाश्वत नियम सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूपों को ग्रथित किये हैं। वैदिक भाषा में इन्हें ही 'ऋत' कहा गया है। वैदिक दर्शन के अनुसार ऋत के अधीन मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। ऋग्वेद के एक छोटे से मंत्र में जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध तथा कर्मफल के सिद्धान्त को एक मनोहर दृष्टान्त द्वारा समझा दिया गया है। वहां कहा गया है कि (नित्य) प्रकृतिरूपी वृक्ष पर आत्मा और परमात्मा नामक दो पक्षी बैठे हैं जो (नित्यता की दृष्टि से समान होने से) परस्पर मित्र हैं। उनमें से एक (जीव) तो अपने कर्मानुसार मधुर या कटुफलों का भोग करता है और दूसरा अर्थात् परमात्मा भोग न करता हुआ केवल साक्षी बनकर उसे देखता है। मंत्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(ऋ० १।१६४।२०)

सार यह है कि वेद सब प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन कराता है। यजुर्वेद में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(यजु० ४०।६)

अर्थात् 'जो तो सब प्राणियों को आत्मा में ही देखता है और सब प्राणियों में अपनी आत्मा को देखता है वह उस आत्मदर्शन के पश्चात् आत्मा की सत्ता में संदेह नहीं करता।' फिर अगले मंत्र में कहा गया है कि जब सब प्राणी अपने आत्मा के समान ही हो जाते हैं, उस समय सब प्राणियों में आत्मदृष्टि से एकता का अनुभव करने वाले ज्ञानी के लिये कोई मोह और शोक नहीं रह सकता—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(यजु० ४०।७)

आत्मदर्शी व्यक्ति के लिये भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं। वह सब प्राणियों में समभाव रखकर लोकोपकार में प्रवृत्त होता है। प्राणीमात्र को आत्मदृष्टि से देखता हुआ मनुष्य कभी अनैतिक व्यवहार नहीं करता। वह स्वकल्याण के साथ परकल्याण का भी साधन बन [illegible] है। [illegible] मनुष्य ही अमरता प्राप्त कर ब्रह्मसाक्षात्कार का अधिकारी होता है। मनुष्य तब तक ही नाशवान् रहता है जब तक वह अपनी सत्ता शरीरमात्र तक सीमित समझता है। नश्वरता का भय सदा उस पर मंडराता रहता है। इसके विपरीत जिस समय आत्मा मरणधर्मा शरीर से स्वयं को पृथक् कर लेता है उस समय वह अमर ही हो जाता है।

परमात्मा की अनुभूति से आत्मा की नैतिक भावना प्रखर हो जाती है। मन में दुष्ट विचारों का जमाव तभी तक रहता है जब तक अज्ञानवश शरीर में अवस्थित परमात्मा आंखों से ओझल रहता है। जैसी हमारी सत्ता है वैसी ही दूसरों की है यह आध्यात्मिक भ्रातृभाव

उनमें जगता है। ईश्वर को सब प्राणियों के माता-पिता समझने वाला व्यक्ति सबके सुखदुःख को अपना सुखदुःख समझता है और 'सर्वजन-सुखाय' 'सर्वजनहिताय' कार्यों को करने में प्रवृत्त हो जाता है। न्याय-कारी एवं नियन्ता परमात्मा की भावना व्यक्ति को नियन्त्रित सदाचारी जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है।

वैदिक ऋत की भावना मानव में समुज्ज्वल आशावाद, भद्रभावना और विश्वास को जन्म देती है। ऋत की व्यवस्था में संसार अस्त-व्यस्तता एवं उद्देश्यहीन आकस्मिक अवयवों से पूर्ण न होकर समता के क्रम में और एक विशेष प्रयोजन के अनुसार कार्य करता हुआ प्रतीत होता है। जब कभी अविश्वास हमें ललचाकर हमारी आस्था को चूर-चूर करने लगता है, तब ऋत की भावना हमें सांत्वना एवं शांति प्रदान करती है और एक सुरक्षा का भाव हमारे मन में आता है। हम अनुभव करते हैं कि धर्मसम्बन्धी एक कानून सदाचार के क्षेत्र में वर्तमान है, जो प्रकृति में स्थित सुन्दर व्यवस्था के ही अनुकूल है। जैसे सूर्य का अगले दिन उदय होना निश्चित है, वैसे धर्म की विजय भी निश्चित है। इसके अतिरिक्त ऋत की भावना का यह भी मर्म है कि परमेश्वर की अध्यक्षता में जो अटल नियम कार्य कर रहे हैं उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति अपने बुरे कर्मों के कटु फल से बच नहीं सकता।

इस प्रकार आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी वैदिक धारणा और ऋत [illegible] कर्मफल सिद्धांत मनुष्य को बुरे आचरणसे दूर करता है और उसमें अनेक उदात्त भावनाओं का संचार कर ब्रह्मसाक्षात्कार जैसे उदात्त लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है।

उदात्त चरित्र

वेद की चारित्रिक गुण सम्बन्धी परिकल्पना पर्याप्त उदात्त है। वैदिक संस्कृति सदाचार को जितना महत्त्व प्रदान करती है उतना अन्य उपादानों को नहीं। वेद का कथन है कि दुराचारी व्यक्ति ऋत के मार्ग को पार नहीं कर सकता---**'ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।'** देवयान (स्वर्ग व ज्योति की ओर ले जाने वाला मार्ग) सुकृति अर्थात् सदाचारी व्यक्ति के लिए ही है----**'स्वर्गस्य पन्थाः सुकृते देवयानः'** अतएव ऋषि प्रार्थना करता है कि हे अग्ने (अग्रणी देव)! मुझे दुश्चरित से पृथक् करो और सब ओर से सदाचार का भागी बनाओ--**'परिमाऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।'** (यजु० ४।८८)

वेद में चरित्र की उदात्तता के लिए एक ओर द्वेषत्याग, पाप-निर्मोक्षण तथा द्यूत और सुरा के परिवर्जन का दृढ़ संकल्प किया गया है तो दूसरी ओर सत्याचरण, विद्याप्रेम, सद्बुद्धि, निर्भयता, स्वस्तिकामना, [illegible] तथा मन का शिवसङ्कल्प आदि चरित्र के उदात्त गुणों के लिए दिव्य प्रार्थनाएँ हैं।

ऋत और सत्य की भावना

वेद की नैतिक मान्यताओं का मूल आधार ऋत और सत्य का व्यापक सिद्धान्त है। इस विश्व में प्रत्येक पदार्थ में जो व्यवस्था पाई जाती है वह ऋत (त्रिकालाबाधित सत्यरूपी नियम) के ही कारण है। हम देखते हैं कि दसों दिशाओं और सभी कालों में विश्व-प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही है। करोड़ों प्रकाशवर्षों की दूरी पर स्थित नीहारिकाओं (Nebulae) में भी परमाणु के विकास व विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं वे ही हमारी इस पृथ्वी पर भी हैं। अगणित

परीक्षणों के उपरान्त भी इन नियमों में किसी तरह का उलट फेर नहीं पाया जा सका। इसका एकमात्र कारण ब्रह्माण्ड का अखण्ड व अटल नियम है जो कि सर्वत्र व्याप्त दीख पड़ता है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता इसे 'चरम नियम" (Supreme Law) कहकर इसके सम्मुख नतमस्तक होते हैं। वैदिक शब्दावली में इसे ही 'ऋत (Cosmological Order) का नाम दिया गया है। जड़-चेतन सबमें 'ऋत' का एक तन्तु ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य, ग्रह-उपग्रह ये सभी ऋतपथ के अनुयायी हैं। यूनानी दार्शनिक प्लेटो इसे ही व्यापक नियमों के नाम से पुकारता है। चीनी संत लाओ त्सू सृष्टि में व्याप्त एक विशेष व्यवस्था 'ताओ' को मानता है, जो कि उसके नीतिशास्त्र, दर्शन एवं धर्म की नींव है। सारांशत: बाह्य जगत् की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रकृति के अटल एवं शाश्वत नियमों के अधीन चल रही है, जिनमें परस्पर विरोध न होकर ऐक्य विद्यमान है। इसी को 'ऋत' कहते हैं। इसी प्रकार मानव जीवन के प्रेरक नैतिक आदर्श 'सत्य' संज्ञा से अभिहित हैं। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सच्चा रहना, यही वास्तविक धर्म है। परन्तु वैदिक आदर्श, इससे भी आगे बढ़कर, ऋत और सत्य को एक ही मौलिक तथ्य के दो रूप मानता है। इसके अनुसार मनुष्य का कल्याण प्राकृतिक नियमों और आध्यात्मिक नियमों में परस्पर अभिन्नता को समझते हुए उसके साथ अपनी एकरूपता के अनुभव में ही है। वेद में 'ऋत' और 'सत्य' की महिमा का हृदयाकर्षक वर्णन अनेक स्थानों पर पाया जाता है। यथा—

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्
ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द
कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥१॥
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति
पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष,
ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ॥२॥ (ऋ०४।२३। ८-९)

"ऋत अनेक प्रकार की सुख शान्ति का स्रोत है, ऋत की भावना पापों को विनष्ट करती है। मनुष्य को उद्‌बोधन और प्रकाश देने वाली ऋत की कीर्ति वहिरे कानों में भी पहुँच चुकी है।"

"ऋत की जड़ें सुदृढ़ हैं, विश्व के नाना रमणीय पदार्थों में ऋत मूर्तिमान् हो रहा है। ऋत के आधार पर ही अनादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है। ऋत के कारण ही सूर्य-रश्मियां जल में प्रविष्ट हो उसको ऊपर ले जाती हैं।"

इसी प्रकार वेद में सत्य की महिमा का व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार द्युलोक का धारण बाह्य लोक से सूर्य द्वारा हो रहा है वैसे ही वास्तविक रूप से इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। (ऋ० १०।८५।१)

वस्तुतः यदि इस संसार से सत्य को समाप्त कर दिया जाय तो कोई किसी पर भी विश्वास न करे तथा इस प्रकार सब लोक-व्यवहार ही समाप्त हो जाए। अतः सत्य पर ही भूमि का आधार है। यह वैदिक उपदेश पूर्णतः यथार्थ है। अथर्ववेद के भूमि-सूक्त में भी पृथिवी के धारण करने वाले पदार्थों में सर्वप्रथम सत्य का ही परिगणन किया गया है—

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
(अथ० १२।१।१)

यजुर्वेद में कहा गया है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने सत्य और असत्य के रूपों को देखकर पृथक्-पृथक् कर दिया है। उनमें से श्रद्धा की पात्रता सत्य में ही है, अश्रद्धा की अनृत या असत्य में है—

दृष्ट्वा रूपं व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः। (यजु० १९।७७)

अन्य मन्त्र में कहा गया है 'व्रताचरण से ही मनुष्य की दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा

अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है'—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजु० १९।३०)

ऋग्वेद में कहा गया है कि उत्तम ज्ञान को प्राप्त करने वाले पुरुष के लिये सत्य और असत्य वचन एक दूसरे का मुकावला करते हुए पहुंचते हैं। उन दोनों में से जो सच और जो एक सरल वचन है, सौम्य व्यक्ति उसकी रक्षा करता है, जो असत्य वचन है उसका सर्वथा नाश कर डालता है—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥
(ऋ० ७।१०४।१२)

इसलिए यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि मैं अपनी वाणी में सत्य को प्राप्त करूं—

वाचः सत्यमशीय (यजु० ३९।४)

समस्त शक्तियां मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य में तत्पर रहने की शक्ति प्रदान करें—

देवा देवैरवन्तु मा…सत्येन सत्यम् (यजु० [illegible])

यज्ञ द्वारा मैं सत्य और श्रद्धा को प्राप्त करूं—

सत्यं च मे श्रद्धा च मे……यज्ञेन कल्पन्ताम् (यजु० १८।५)

यह ऋत और सत्य की भावना ही वस्तुतः अन्य उदात्त भावनाओं की जननी है। समस्त सृष्टिप्रपंच एक निश्चित एवं शाश्वत नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित है, यह भावना मनुष्य में स्वभावतः समुज्ज्वल आशावाद, भद्र-भावना और आत्म-विश्वास आदि उदात्तभावनाओं को उत्पन्न करती है।

ज्ञाननिष्ठा

(क) विद्या-अनुराग

वेद में विद्या को अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति का प्रधान साधन माना गया है। वाजसनेयि संहिता के चालीसवें अध्याय तथा अनेक उपनिषदों में ऐहिक भौतिक सुख-समृद्धि की साधिका विद्या को "अपरा विद्या" अथवा "अविद्या" तथा अक्षरतत्त्व की प्राप्ति द्वारा अमृतत्व का मार्ग प्रशस्त करने वाली विद्या को "परा विद्या" अथवा 'विद्या' कहा गया है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की विद्याओं में ब्रह्म-साक्षात्कार की साधिका 'परा' उत्कृष्टतर है, तथापि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में सांसारिक अभ्युदय भी अभीष्ट है। अतः दोनों के समन्वय पर ही बल दिया गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजु०।४०।१४)

अतः वेद का आदेश है कि बड़ा बनने की इच्छा वालो ज्ञानी बनो। विद्या प्राप्ति से कदापि बिछुड़ो नहीं···**"ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट"** (अथ० ३।६०।५)। पवित्रता के इच्छुक वेदविद्या का आश्रय लेते हैं--**"पवित्रवन्तः परिवाचमासते"** (ऋ०९।७३।३)। वैदिक ऋषि की प्रार्थना है—प्रभो! हमें वेदज्ञान प्रदान कर--**'नो वेद आ भर'** (अथ० [illegible])। हम सब वेद-प्रेमी बनें—**'प्रियाः श्रुतस्य भूयासम्'** अथ० ७।६१।१)। ज्ञानी सिंह की तरह गरजते हैं--**'सिंहा इव नानदति प्रचेतसः'** (ऋ० १।६४।८)। वैदिक ऋषि वेद को अपनी ढाल बनाने की उद्घोषणा करता है--**ब्रह्माहमन्तरं कृणवे'** (अथ० ७।१००।१)।

(ख) बुद्धि और मेधा की उपासना

वेद में अच्छी बुद्धि एवं मेधा (तर्क शक्ति को धारण करना) के लिये पौनःपुन्येन प्रार्थना की गई है। यहां तक कि हिन्दुओं का सर्वप्रिय गायत्रीमंत्र भी बुद्धि-प्रेरणा की प्रार्थना करता है **'धियो यो नः प्रचोदयात्।'** बुद्धिबल से ही मनुष्य सत् और असत् का विवेक कर

सन्मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इसीलिये गायत्री मंत्र को वेदमाता कहा गया है। निस्संदेह गायत्री वेदमाता है—बुद्धि को प्रेरणा देने वाली, बुद्धि को बढ़ाने वाली तथा वेद-स्वाध्याय में रत व्यक्तियों की बुद्धि को तीक्ष्ण एवं पवित्र करने वाली। अतएव विदुरनीति में एक स्थान पर कहा गया है कि देवजन किसी की रक्षा दण्ड लेकर नहीं किया करते प्रत्युत जिसकी रक्षा करनी होती है उसको बुद्धि दे देते हैं और जिसका नाश करना होता है उसकी बुद्धि को खींच लेते हैं—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥

एक सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि ही तो सब कुछ है। वह सब कुछ प्राप्त करा सकती है। सुबुद्धि के आश्रय से असाध्य भी साध्य बन जाता है। वैदिक धर्म में अन्धश्रद्धा व अन्धभक्ति को कोई स्थान नहीं। श्रद्धा का अर्थ भी वस्तुतः 'सत्य' को धारण करना (श्रत्-धा) है जो कि बुद्धि के बिना संभव नहीं। अतः वेद में स्थान-स्थान पर अच्छी बुद्धि के लिए प्रार्थना की गई है—

धियं वनेम ऋतया सपन्तः (ऋ० २।११।१२)

'सदाचरण से परस्पर प्रेम करते हुए हम बुद्धि प्राप्त करें।'

चोदय धियमयसो न धाराम् (ऋ० ६।४७।१०)

'हे प्रभो ! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना।'

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥१॥
यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः ।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि ॥२॥
यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥३॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥४॥

(अथ० ६।१०८।२५)

अर्थात्---'हे मेधा देवी ! तुम वेद का आधार हो । वेद से तुम्हारा विस्तार हो । सब ऋषि तुम्हारी महिमा गाते हैं । सब ब्रह्मचारी तुम्हारा रक्षण करते हैं । तुम हम पर प्रसन्न होओ और तुम्हारे द्वारा देवता हमारी रक्षा करें ।

जिस मेधा का ऋभु-गण को मान है, जिस मेधा का देव-गण को मान है और जिस मेधा का ऋषि गण को मान है उसी भली मेधा को हम अपने अन्दर धारण करें ।

हे अग्नि देव ! मेधावी ऋषिगण उत्तम मेधा को ही पाकर (शब्दसारस्वरूप) ऋचाओं का प्रकाश करते हैं । हे अग्नि देव ! उसी मेधा से आज मुझे भी युक्त करके मेधावी बना दो ।

हे मेधा देवी ! सायं हो या प्रातः हो हम तेरी ही आराधना किया करें और दोपहर के प्रकाश में भी हम सूर्य की किरणों द्वारा तुझे ही अपने अन्दर धारण किया करें ।

(ग) सरस्वती-वन्दना

वेद में ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की वन्दना अत्यन्त मनोहारी शब्दों में हुई है--

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥१॥
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥२॥
महो अर्णः सरस्वती, प्रचेतयति केतुना ।
धियो विश्वा विराजति ॥३॥
शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वती ।
मा ते युयोम संदृशः ॥४॥

(ऋ० १।३।१०-१२, अथ० ७।६८।३)

हे सरस्वती देवी ! तू पवित्र करने वाली है । तू शब्दों का भण्डार

है। तेरा चिन्तनमात्र सब धनों का द्वार है। तू हमारे यज्ञ व आराधन को स्वीकार कर।

हे सरस्वती देवी ! तू सच्ची वाणियों की प्रेरणा करने वाली है। तू सुमतियों को सुझाने वाली है। तू सब यज्ञों को धारण करने वाली है।

हे सरस्वती देवी ! तेरे इशारे से महान् शब्द पैदा हो रहा है। तू सकल स्तोत्रों के अन्दर चमक रही है।

हे करुणामयी सरस्वती भगवती ! हमें सुखी और कल्याण-युक्त कर दे। हम तेरे उत्तम दर्शन से कभी वंचित न हों।

मेरा मन शिवसंकल्प वाला हो

वाजसनेयि संहिता के मनः सम्बन्धी प्रस्तुत सूक्त के प्रत्येक मंत्र में मन के शिवसंकल्प होने की प्रार्थना की गई है। मनोविज्ञान के मूलभूत गूढ़ तत्त्व इस सूक्त में अत्यन्त काव्यमयी भाषा में रखे गए हैं। इन मंत्रों का सार यह है कि मन इस विश्व में बहुत बड़ी शक्ति है---

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

अर्थात् मेरा मन विचित्र प्रकाश है। जब मैं दिन को जाग रहा होता हूँ, तो यह दूर निकल जाता है। जब रात को सोता हूँ, तब भी यह वैसे ही घूमता है। दूरगामी, ज्योतियों में अद्भुत ज्योतिरूप यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो,
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

जिसके द्वारा कर्म-परायण, मनीषी, सज्जन यज्ञों में और बुद्धिमान् विद्वान् विज्ञान सभाओं में पवित्र कर्मों को विस्तृत करते हैं, जो सब उत्पन्न हुए-हुए प्राणियों के अन्दर अपूर्व और आदरणीय पदार्थ के रूप में विराज रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च,
यज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

जो जानने, पहचानने और धारण करने में मुख्य साधन है; जो उत्पन्न हुए-हुए प्राणि वर्ग के अन्दर अमृत ज्योति के रूप में विराज रहा है; जिसके विना कोई भी कर्म करना असम्भव हो जाता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्,
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

जिस इस एक अमृत पदार्थ ने अतीत, अनागत और वर्तमान, इस सत्य संसार को धारण कर रखा है और जो सात स्तुति-पाठकों वाले जीवनरूपी यज्ञ को विस्तृत कर रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे [illegible] वाला हो ।

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन्,
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

जिसमें रथ-नाभि में अरों के समान, ऋचाएँ, यजु और साम प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जिसमें उत्पन्न हुए-हुए प्राणिवर्ग का सब ज्ञान ओत-प्रोत हो रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्,
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं,

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥ (यजु० ३४।१-६)

जो चतुर सारथी की तरह बलवान घोड़ों के समान मनुष्यों को (मानो) रासों द्वारा लगातार हाँकता रहता है, जो हृदय स्थान में रहता है, जो कभी घिसने भी नहीं आता और जो वेग में सबके आगे रहता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

"मनुष्य का मन सबसे अधिक प्रभावशाली है। इसकी शक्ति अपरिमित है, अतः यह दिव्य है। मनुष्य के सोते होने पर भी मन का गतिशील होना अवचेतन मन की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार बड़ी ज्योतियों (ग्रह नक्षत्रों) से मनुष्य का जीवन प्रभावित होता है, उसी प्रकार मन से भी होता है। साररूप में कह सकते हैं कि मनुष्य वह है, जो उसका मन। यदि प्रत्येक व्यक्ति के मन में कल्याण की भावना आ जाये, तो सारे संसार का चित्र परिवर्तित हो जाये।" (वैदिक-संग्रह, पृष्ठ १७६)। अतएव वैदिक ऋषि मनः शुद्धि के लिए उपर्युक्त मन्त्रों में शिव-सङ्कल्प करता है।

मनः शुद्धि की निरन्तर प्रक्रिया के फलस्वरूप अन्त में मनुष्य का यह कहने का सामर्थ्य होता है---

तेजोऽसि
शुक्रमसि
अमृतमसि
धाम नामासि
प्रियं देवानाम्
अनाधृष्टम्
देवयजनमसि ॥ (वा० सं० १।३१)

अर्थात्---हो तुम तेज (अरे मन !)
तुम ही दीप्तिमान् हो !
अमृत हो तुम निधान !
नाम हो प्रिय दिव्य गुणों के,

अनाधृष्ट हो (किसी तत्त्व से),
देव के पूजन यजन तुम्हीं हो ।*

वेद में मनोबल को बढ़ाने एवं मनोबल को क्षीण करने की कोशिश करने वाले की दुर्गति बनाने का अदम्य उत्साह प्राप्त होता है । वैदिक वीर कहता है—

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति ।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥
(अथ० २।१२।३)

'हे देवो ! सुन लो, मेरी इस भीष्म-प्रतिज्ञा को सुन लो । आज मेरे बलवान् मन में प्रबल संकल्प उठ रहे हैं । जो कोई मेरे मनोबल की हिंसा करने आयेगा वह पाशबद्ध होकर दुर्गति को पायेगा ।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥
(अथ० ३।४५।१)

ओ मन के पाप ! चल दूर हट मेरे पास से, क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है ? चल दूर हट यहां से, वृक्षों से जाकर टकरा, जंगलों में भटकता फिर । मुझे फुरसत कहां है जो तेरा स्वागत करूँ । मेरा मन तो गृह-कार्यों में और गो-सेवा आदि शुभ-कार्यों में लगा है ।

कैसी आत्मविश्वास-भरी वीरतापूर्ण और सजीव उक्ति है । क्या ऐसे सतर्क और साहसी व्यक्ति के मन में पाप कभी डेरा डाल सकता है ?

आगे देखिये, अपने संकल्प-बल को जागृत करता हुआ वह वीर कह रहा है—

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् ।

---

*डॉ० कृष्णलाल-'शुक्ल यजुर्वेद में मनश्चिन्तन'---श्री चारुदेवशास्त्र्य-भिनन्दन-ग्रन्थ ।

निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥
(अथ० ६।२।१०)

जाग, जाग, ओ मेरे संकल्प-बल, तू जाग । राक्षसों को मार गिरा, उन्हें घोर अन्धकार में धकेल दे । वे आततायी निरिन्द्रिय और निर्वीर्य हो जायें, एक दिन को भी जीवित न बचने पावें ।

भद्र-भावना

वैदिक मन्त्रों की एक दूसरी अनोखी विशेषता उनकी भद्र-भावना है । यह कल्याण-भावना भोगैश्वर्य-प्रसक्त, इन्द्रिय-लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है । इसके स्वरूप को तो वही समझ सकता है, जिसका यह विश्वास है कि उसका सत्य बोलना, संयत जीवन, आपत्तियों के आने पर भी अपने कर्तव्य से मुँह न मोड़ना, उसके स्वभाव, उसके व्यक्तित्व के अन्तःस्वरूप की आवश्यकता है । गीता की सात्विक भक्ति और निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय, श्रद्धामय कल्याण-भावना निहित है । मानव को परमोच्च देव-पद पर बिठाने वाली यह भद्र-भावना वैदिक प्रार्थनाओं में प्रायः देखने में आती है । जैसे--

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥१॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥३॥
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥४॥
(ऋ० १।८६। १-२,८-६)

अर्थात्---'हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें । उनमें धोखा न हो । उनमें बाधा न हो । उनमें उन्नति ही उन्नति हो । उनसे देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें, वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें ।

देवताओं की भली कल्याणी धारणा हमारे अनुकूल हो। देवताओं के दान का मुख हमारी ओर हो। हमने देवताओं की मित्रता-लाभ की है। वे हमारी आयु बढ़ावें और हम पूर्ण जीवन रखें।

हे देवताओ ! हम कानों से भला सुनें। हे पूजनीयो ! हम आँखों से भला देखें। हमारा. अंग-अंग स्थिर हो। हम सदा स्तुति-शील बने रहें। हमारे तन देव-प्रदत्त आयु भर ठीक चलें।

हे सर्वजगदुत्पादक परमेश्वर, आप हमारे सब दुःखों और दुर्गुणों को दूर भगा दो। जो कुछ मंगल-कारक हो, उसे हमारे यहां ले आओ।

स्वस्ति-कामना

नित्य-नैमित्तिक यज्ञों में 'स्वस्ति-वाचन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः स्वस्ति-कामना संपूर्ण वैदिक धारा में प्रवहमान है। यहां हम निदर्शनार्थ दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत करते हैं---

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु, स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु, स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥१॥

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥२॥

(ऋ० १०।६३।१५-१६)

अर्थात्—सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुख-लाभ हो। भूमि के मरु-भागों में हमें सुख-लाभ हो। जल-प्रधान प्रदेशों में हमें सुख-लाभ हो। खुले मैदानों में हमें सुख-लाभ हो। घनी बस्तियों में हमें सुख-लाभ हो। सन्तति-कारक गृह-सम्बन्धों में हमें सुख-लाभ हो। हे मरुतो ! सुख बढ़े, समृद्धि बढ़े।

जो श्रेष्ठ, धनवती शुभ स्थिति दूर यात्रा में भी हमारा साथ देती है और झट से इष्ट-सिद्धि का द्वार खोल देती है उसके रखवाले सब देवता स्वयं हैं। वह सदा हमारी बनी रहे। वही घर पर और वही बाहर हमारी रक्षा करे।

निष्पाप होने की प्रार्थना

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ९७वें सूक्त में परमात्मा से पापों को भस्म कर देने की अत्यन्त मार्मिक प्रार्थना की गई है। पाप-निर्मोक्षण की यह भावना समस्त वैदिक धारा में प्रवाहमान है। ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करता है---

अप नः शोशुचदघमऽग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥१॥

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप नः शोशुचदघम् ॥२॥

प्र यद् मन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम् ॥३॥

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम् ॥४॥

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम् ॥५॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥६॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ॥७॥

अप नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम् ॥८॥

(ऋ० १।९७।१-८)

अर्थात्---'प्रकाशस्वरूप देव! हमारे पाप को भस्म कर हमारी सद्गुण-सम्पत्ति को प्रकाशित कीजिए। हम बार-बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन-यात्रा के लिए सन्मार्ग और

विविध ऐश्वर्यों की प्राप्ति की कामना से हम ग्रापका यजन करते हैं। ग्राप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए।

भगवन् ! ग्राप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम और साथ ही हमारे तत्त्वदर्शी विद्वान् भी विशेषतः सुख ग्रौर कल्याण के भाजन बन सकें।

प्रकाश स्वरूप देव ! आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए, जिससे कि हम आपके गुणों का गान करते हुए जीवन में उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त कर सकें।

भगवन् ! ग्राप विघ्न-बाधाग्रों को दूर करने वाले हैं। ग्रापके प्रकाश की किरणें सर्वत्र फैल रही हैं। आप हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

हे सब तरफ व्याप्त अग्ने ! आप सबके ऊपर विराजमान् हैं। ग्राप हमारे पाप को भस्म कर दीजिये ।

हे विश्वतोमुख भगवन् ! नाव से जैसे नदी को पार किया जाता है, इसी प्रकार ग्राप हमें कल्याण-प्राप्ति के लिए वर्तमान परिस्थित से ऊपर उठने की क्षमता प्रदान कीजिए। हमारे पाप को भस्म कर दीजिए ।

ग्राप हमें नौका से जिस प्रकार महानद को पार किया जाता है इसी प्रकार हमें सुख प्राप्ति के लिये पार कीजिये तथा हमारे पाप को भस्म कीजिये ।

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥१॥

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥३॥

(ग्रथ० ६।११५।१-३)

हम जब जाने-अनजाने कोई पाप करें तो हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग प्रीतियुक्त होकर उस पाप से हमें मुक्त कराओ।

पापकारी संस्कारों से युक्त यदि मैं सोते हुए पाप करूँ तो जिस प्रकार द्रुपद (खूंटे) से बंधे पशु को मुक्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ लगे भूतकाल के और भविष्यत्काल के पाप को मुझसे छुड़ाओ।

जिस प्रकार पशु खूंटे से मुक्त हो जाता है और पसीने से भीगा पुरुष नहाकर जिस प्रकार मल से रहित हो जाता है और जिस प्रकार छानने के कपड़े से छान लिया गया घृत शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार हे विद्वान् पुरुषो आप मुझे पाप से शुद्ध करें।

निर्भयता

निर्भयता मनुष्य के चरित्र का एक महान् एवं आवश्यक गुण है। इमर्सन की यह उक्ति सर्वांशतः यथार्थ है कि 'भय सदैव अज्ञानता से उत्पन्न होता है।' आत्मदर्शी व्यक्ति को डरने का क्या काम ? कायर व्यक्ति कभी धर्म और सत्य पर स्थिर नहीं रह सकता। वह कहीं भी डगमगा सकता है। अतः वेद में सब प्रकार के भयों से मुक्त होने की उदात्त प्रार्थना की गई है—

अभयं नः करत्यन्तरिक्षम् अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं परोक्षाद्, उत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥१॥

अभयं मित्रादभयममित्राद्, अभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥२॥

(अथ० १६।१५।५-६)

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्वन्तरिक्षं, सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु ॥२॥

(अथ० ६।४०।१)

रत इन्द्रो भयामहे, ततो नो अभयं कृधि।

मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्विद्विषो वि मृधो जहि ॥
(अथ० १९।१५)

अर्थात्—'मध्यलोक हमें अभय प्रदान करे । [illegible] नों, भूलोक और द्युलोक हमें अभय प्रदान करें । पीछे की ओर हमें अभय हो । आगे की ओर हमें अभय हो । ऊपर की ओर हमें अभय हो । नीचे की ओर हमें अभय हो ।

मित्र से हमें अभय हो । अमित्र से हमें अभय हो । अपने से हमें अभय हो । पराए से हमें अभय हो । रात हो तो हमें अभय हो, दिन हो तो हमें अभय हो । सब दिशाएं हमारे प्रति मित्र-भाव से भरी हों ।

हे आकाश और हे भूमे ! हमारे लिए इस जीवन में सदा अभय हो । सोम हमें अभय दे । सविता हमें अभय दे । विशाल अन्तरिक्ष हमारे लिए अभयदायक हो । सप्त-ऋषियों की भवित-भरी वेद-वाणी द्वारा हमें अभयलाभ हो ।

हे इन्द्र ! जिधर से हमें भय हो, उधर से हमें अभय दो । हे भगवन् ! तुम हमें अपनी रक्षाओं द्वारा शक्त बनाओ । हमारी हानि और हिंसा करने वालों को दूर मार हटाओ ।"

द्वेष-त्याग

जिस प्रकार कीट वस्त्रों को कुतर डालता है उसी प्रकार द्वेष मनुष्यको नष्ट कर देता है । द्वेषी व्यक्ति की अपनी तो कोई महत्त्वाकांक्षा होती नहीं, वह तो दूसरे को गिराकर अपने समान स्तर पर ले आना चाहता है । अतः द्वेष की भावना पाप है । वेद में अनेक मन्त्रों में ईश्वर से द्वेषमुक्त होने की प्रार्थना की गई है—

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् (ऋ० ४।१।४)

"हे प्रभो ! हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो ।"

स नः पर्षद् अतिद्विषः (अथ० ६।३४।१)

"ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् कर दे ।"

मा नो द्विक्षत कश्चन

"हमें कोई भी द्वेष करने वाला न हो।"

असपत्ना: प्रदिशो भवन्तु (अथ०१६।१४।१)

"सभी दिशायें मेरे लिए शत्रु रहित हों।"

अनमित्रं नो अधराद् अनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद् अनमित्रं पुरस्कृधि ।। (अथ०६।४०।३)

असपत्नं नो अधराद्, असपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि।

"हे इन्द्र! नीचे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो। पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो।"

हे इन्द्र! नीचे हमें स्वतन्त्रता दो। ऊपर हमें स्वतन्त्रता दो। पीछे हमें स्वतन्त्रता दो। हे वीर! आगे हमें ज्योति प्रदान करो।

दीर्घ-जीवन की कामना

प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक कामना है कि वह दीर्घजीवी बने। यह भावना जीवन के प्रति मोह के कारण होने पर उदात्त प्रतीत नहीं होती। किन्तु वेद में मानवशरीर को एक 'ऋषि आश्रम' व 'देवमन्दिर' माना गया है तथा उसे चिरस्थायी बनाने का उपदेश दिया गया है। इसीलिए वेद में स्थान-स्थान पर दीर्घ जीवन की कामना की गई है—

पश्येम शरदः शतम्,
जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्,
प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्,
भूयश्च शरदः शतात्॥

(ऋ०७।६६।१६; यजु०३६।२४)

"हम सौ वर्ष तक देखें, हम सौ वर्ष तक सुनें, हम सौ वर्ष तक भली-भांति बोलें, हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहें, हम सौ वर्ष से भी अधिक समय तक उन-उन कार्यों को करते रहें।

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।
बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्॥
पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्॥
भूयेम शरदः शतम्। भूयसी शरदः शतात्॥

"हम सौ वर्ष पर्यन्त इन आंखों से देखने वाले बनें। सौ शरद् ऋतु पर्यन्त अक्षुण्ण जीवन वाले हों। सौ वर्ष तक हमारा बोध बुद्धि को प्राप्त होता चले। सौ वर्ष तक हम उन्नति-पथ पर ही बढते चलें। सौ वर्ष तक हम पोषण को प्राप्त होते चलें। सौ वर्ष तक बने ही रहें। सौ वर्ष तक ही क्यों? इससे भी अधिक हमारा जीवन चलने वाला हो।

वैदिक वीर-भावना*

यह संसार एक युद्धभूमि है। मनुष्य के चारों ओर विघ्न, बाधायें और शत्रु मुँह वाये खड़े हैं और उसे निगलना चाहते हैं। बाहर की तरह मनुष्य के अन्दर भी सतत एक देवासुर संग्राम चल रहा है। वेद पापवृत्तियों रूपी असुरों को नष्ट करने के लिये जहां मनुष्य के सङ्कल्प-बल को जागरित करता है वहां अन्याय और अत्याचार का प्रतीकार करने के लिये मनुष्य में वीरता की भावना को भी प्रेरित करता है। वेद का संदेश है कि अन्याय और अत्याचार को नष्ट करने के लिये यदि हिंसा भी करनी पड़ती है तो वह हिंसा नहीं अपितु वीरता है। अतः वेद मनुष्य का उद्बोधन करता है--

प्रेता जयता पर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु।

---

*विस्तार के लिए देखिए---'वैदिक वीर-गर्जना', डॉ० रामनाथ वेदालंकार।

उग्रा वः सन्तु बाहवो अनाधृश्यो यथासथ ॥

(ऋ०१०।१०३।१३)

वीरो ! उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो । इन्द्र तुम्हें सुख दे तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिससे कि तुम कभी पराजित न हो सको ।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋ० १।८०।३)

हे वीर ! आगे बढ़, शत्रु पर वार कर, उसे परास्त कर दे । तेरे शस्त्र को कोई नहीं रोक सकता । शत्रु को झुका देने वाला बल तुझमें विद्यमान है । आततायी को मार दे । तेरी जिन प्रजाओं को शत्रु ने पकड़ लिया है उन्हें जीत ले । स्वराज्य-आराधक बन ।

विरक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ (ऋ०१।१५२।३)

हे वीर ! राक्षसों का संहार कर, हिंसकों को कुचल डाल, दुष्ट शत्रु की दाढ़ें तोड़ दे । जो तुझे दास बनाना चाहे उस वैरी के क्रोध को चूर कर दे ।

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥२॥

(ऋ० १।३९।२)

हे वीरो ! सुदृढ़ हों तुम्हारे हथियार शत्रु को दूर भगा देने के लिए, सुदृढ़ हों शत्रु के वार को रोकने के लिए । तुम्हारी सेना, तुम्हारा संगठन, प्रशंसा के योग्य हो ।

उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ (अथ० ११।१०।१)

उठो वीरो ! कमर कस लो, झण्डे हाथों में पकड़ लो । जो भुजंग हैं, लम्पट हैं, पराये हैं, राक्षस हैं, वैरी हैं उन पर धावा बोल दो ।

यदि नो गां हंसि, यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥४॥
(अथ० १।१६।४)

ओ आततायी। तू मुझे निस्तेज, बुझा हुआ, [illegible] समझना। मत समझना कि तू आकर मुझे सता लेगा और मैं चुपचाप सह लूंगा। देख यदि तू मेरी गाय को मारेगा, घोड़े को मारेगा, मेरे सम्बन्धी पुरुषों को मारेगा तो याद रख मैं तुझे सीसे की गोली से बींध दूंगा।

यो नो दिप्सददिप्सतो, दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्ववानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥५॥ (अथ० ४।३६।२)

जो कोई व्यर्थ में किसी का वध न करने वाले, किन्तु दुष्टों का पकड़-पकड़ कर वध करने वाले, हम लोगों को मारने का संकल्प करेगा उसे मैं जलती हुई आग की लपटों में झोंक दूंगा।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
शुने पेष्ट्रामिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥६॥ (अथ०६।३७।३)

जो कोई भले आदमियों को शाप न देने वाले, किन्तु दर्जनों को जी भर कर शाप देने वाले हम लोगों को आकर कोसेगा, हमारे सामने आकर व्यर्थ गाली-गलोच बकेगा, उसे मैं मौत के आगे फेंक दूंगा, जैसे कुत्ते के आगे सूखी रोटी के टुकड़े।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवं स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आददे ॥ (अथ०७।१३।७)

अरे, मुझे क्या तुमने साधारण मनुष्य समझा है। मैं तो सूर्य हूँ! सूर्य जैसे उदित होकर सब नक्षत्रों के तेज को हर लेता है, वैसे ही मैं अपनी अपूर्व आभा के साथ जगत् में उदित होकर शत्रुता करने वाले सब स्त्री-पुरुषों के तेज को हर लूंगा।

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्निवेष्टयामि इदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥२॥ (अथ० १०।५।३६)

अरातीर्यो भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः अपि वृश्चाम्योजसा ।।

निश्चय ही हमारी विजय होगी, हमारा अभ्युदय होगा, शत्रु की सेना को हम परास्त कर देंगे । मुझसे शत्रुता ठानने वाला जो अमुक पुरुष का बेटा और अमुक मां का बेटा है, उसके वर्चस् को, तेज को, प्राण को, आयु को मैं हर लूंगा । उसे भूमि पर दे मारूँगा । मुझ से वैर करने वाले दुष्ट हृदयी द्वेषी शत्रु का मैं सिर काट डालूंगा ।

केवल वेद के पुरुषों में ही ऐसी वीर-भावना नहीं भरी है, अपितु वेद की नारियां भी ऐसे ही वीर-भावों से ओतप्रोत हैं । एक नारी के उद्गार देखिए—

अवीरामिव मामयं शरारूरभिमन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ।।४।।

(ऋ०१०।८६९।)

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ।। ५ ।।

(ऋ० १०।१५९।३)

अरे, यह घातक मुझे अबला समझे बैठा है ? मैं अबला नहीं, वीरांगना हूँ, वीर की पत्नी हूँ । मौत से न डरने वाले वीर मेरे सखा हैं । मेरा पति संसार में अपनी तुल्यता नहीं रखता ।

मेरे पुत्र शत्रु के छक्के छुड़ा देने वाले हैं, मेरी पुत्री अद्वितीय तेजस्विनी है । मेरे पति में उत्तम कीर्ति का निवास है और मैं अपनी क्या बताऊँ ? कोई मेरी तरफ आंख उठा कर तो देखे, ऐसा परास्त होकर लौटेगा कि सदा याद रखेगा ।

द्यूत-निन्दा

ऋग्वेद का अक्ष-सूक्त*एक जुआरी का आत्म-प्रलाप है । इसमें बहुत काव्यात्मक रूप में जुए के प्रति जुआरी का अनायास आकर्षण, उसके द्वारा सम्पादित गृह-विनाश, परिवार और समाज द्वारा उसकी गर्हणा

*सूक्त की सब टिप्पणियां 'वै० सं०' से ली गई हैं ।

और अन्त में इस सबके फलस्वरूप स्वयं जुआरी के द्वारा हाथ से काम करके कमा कर खाने का उपदेश दिया गया है। सम्पूर्ण वर्णन अत्यन्त मार्मिक है और किसी भी उत्कृष्ट काव्य से प्रतिस्पर्धा कर सकता है। जुआरी की दशा का यह सजीव और यथार्थ चित्रण पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ जाता है।' सूक्त इस प्रकार है—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ।।१।।

'इस महान् वृक्ष के ये झंझावात में उत्पन्न और द्यूत के पटपर लेटने वाले, हिलते कर्णफूल, मुझे बड़ा आनन्द दे रहे हैं। मूज़वत् पर्वत से प्राप्त हुए सोम वल्ली के रस के पान की तरह यह विभीदक मुझे सदैव जागरूक प्रतीत होता है।'

पासे चञ्चल हैं, क्रियाशील हैं, स्थिर नहीं रहते। वे मानो जागते रहते हैं (चाहे भाग्य सोता हो)। वे जुआरी को उसी प्रकार आकृष्ट और आनन्दित करते हैं जैसे किसी को भी प्रेरणाप्रद सोमपान।

न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ।।२।।

'इस बेचारी ने मुझे कभी रोका नहीं, न इसने कभी मेरा तिरस्कार किया है। मेरे द्यूतकार मित्रों के तथा मेरे साथ वह बड़े ही सौजन्य से पेश आती थी। किन्तु प्रायः एक अंक से अधिक इन अक्षों के लिए मुझसे एकनिष्ठ रहने वाली भार्या को भी मैं तिरस्कृत करता आया हूँ।'

हारा हुआ दुःखी जुआरी पश्चात्ताप कर रहा है। उसकी पत्नी कितनी स्नेहार्द्र और सहनशील थी। परन्तु वह उस पासे के जाल में फंसा रहा जो केवल एक (जीतने वाले) के प्रति आसक्त रहता है। यदि वह निर्दय होकर अपनी पत्नी को नहीं ठुकराता तो आज उसकी यह दुर्दशा न होती।

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् ।।३।।

'उसकी सास उसका तिरस्कार करती है और उसकी भार्या भी उसको रोकती है (बाहर जाने नहीं देती)। आपत्ति में फंस जाने पर जब वह याचना करने लगता है, तब दया दिखाने वाला कोई भी [illegible] उसे मिलता नहीं। (हर एक कहता है कि) मूल्य कम करने योग्य बूढ़े घोड़े की तरह, मुझे इस जुआरी का कुछ भी उपयोग नहीं होगा।'

हारा हुआ जुआरी भिखारी बन जाता है। वह ऐसा भिखारी है, जिससे किसी की सहानुभूति नहीं होती। जामाता का सत्कार करने वाली सास भी उससे घृणा करती है और पत्नी भी (जो स्वयं धन की कठिनाई से पितृगृह में आकर रह रही है उसे घर में आने से रोकती है। वह उस बूढ़े घोड़े के समान है जो बिकाऊ है, पर जिसका कोई मूल्य देने को तैयार नहीं। इस प्रकार जुआरी का कोई भोग दिखाई नहीं देता जिससे औरों को सुख हो।

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम् ॥४॥

'जिसकी आमदनी पर इस महापराक्रमी अक्ष ने लोभ दिखाया उस द्यूतकार की भार्या का भी अन्य पुरुष प्रघर्षण करते हैं। उसके माता पिता और बन्धुजन भी उसे देखकर कहते हैं 'हम इसे (इसका द्रव्यादि व्यवहार) बिल्कुल जानते नहीं, इसे (आवश्यक हो तो) बांधकर (राज पुरुष की ओर) ले जाइए।'

जिस जुआरी के धन के प्रति यह पासा अत्यन्त लोभी था अर्थात् इसने जिसे धन लेकर हराया, उसकी पत्नी निराश्रित हो गई है। सम्भवतया अन्य जुआरी हारे जुआरी से दाव में हारे धन को प्राप्त करने के लिए उसकी पत्नी को परामृष्ट करते हैं। जब वे जुआरी अथवा राजपुरुष उसे पकड़ने आते है तो माता, पिता और भाई भी उसे अपना नहीं मानते।

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव ॥५॥

'जिस समय 'इस बार मैं इनसे नहीं खेलूँगा' इस तरह का निश्चय करता हूँ उस समय द्यूतसभा की ओर जाने वाले मेरे मित्रों से छूटकर पीछे रह जाता हूँ। (किन्तु) जब द्यूतपट पर फेंके ज... र उन पीतवर्ण अक्षों ने साथ ही मुझे आवाज़ दी तब शीघ्र ही, मैं (बाहर निकल कर) उनके संकेत स्थान पर, उसी तरह जाता हूँ जैसे कोई जारिणी अपने जार के संकेत स्थान पर।'

जुआरी को जुआ खेलने का ऐसा व्यसन हो गया है कि वह अब उससे विमुख होने में विवशता का अनुभव करता है। वह बार-बार जुआ छोड़ने का निश्चय करता हे।

जुआरी मित्र उसे हरा कर उसके घर तक छोड़ने आते हैं और फिर द्यूतस्थल को जाते हैं, तब वह सोचता है कि मैं इनके साथ न जाऊँ और फिर द्यूत-विरक्त हो जाऊँ। परन्तु द्यूत-पटल पर पासों के पड़ने का शब्द मानो उसे विचलित कर देता है और फिर वह गये बिना नहीं रहता। यहां बहुत सुन्दर उपमा से यह भाव स्पष्ट किया गया है। उसका विवशतापूर्वक जाना एक स्वैरिणी अवैध-प्रेमिका के अपने जार के पास निश्चित स्थल पर जाने जैसा है। इस मन्त्र में व्यसनी की मनः स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ॥६॥

'कम से कम आज मेरी जीत होगी' इस प्रकार विचार करके और गर्व से वक्षःस्थल (चौड़ा करके) द्यूतसभा की ओर जाता है। परन्तु ये अक्ष उसके प्रतिस्पर्धी को ही 'कृत' संज्ञा का (सर्वश्रेष्ठ) दान समर्पित करके उसकी अभिलाषा को मिट्टी में मिला देते हैं।'

किन्तु जब जुआरी पुनः जुए के लिए द्यूतगृह में जाता है तो उसे सन्देह होता है कि मैं जीतूँगा भी या नहीं ? विश्वास का तेज फिर भी उसके मुख से प्रकट होता है और वस्तुतः जाल में फंसाने वाले तो

पासे ही हैं। जैसे-जैसे वह अपनी ओर से प्रतिपक्षी जुआरी के लिये नई उचित चालें चलता है, उसकी आशा बंधती है, मानो पासे उसमें और अधिक खेलने की इच्छा उत्पन्न कर रहे हों।

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा ॥७॥

'सचमुच ये अक्ष हाथ में अङ्कुश और प्रतोद धारण करने वाले बनकर, मानो दूसरे का अपमान करने वाले, पीड़ा देने वाले, पीड़ा देने के लिए दूसरों को प्रवृत्त कराने वाले ही हैं। उनका दान छोटे बच्चों के दान की तरह (अविश्वसनीय) है, (क्योंकि) वे आज विजयी होने वाले द्यूतकार को फिर किसी अवसर पर पीट भी देते हैं। तथापि मधु से भरे हुए अक्ष द्यूतकार की मूर्तिमती (स्फूर्तिदात्री) शक्ति ही हैं।'

पासों की शक्ति बहुत बड़ी है। ये उस अंकुश से युक्त महावत के समान हैं जो हाथी जैसे विशाल प्राणी को भी अपनी इच्छानुसार ले जा सकता है। ये पासे भी जिताकर धन के द्वारा पुत्रलाभ-तुल्य आनन्द प्रदान करते हैं और हराकर मर्मभेद भी करते हैं—सन्तप्त भी करते हैं।

त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देवइव सविता सत्यधर्मा।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत् कृणोति ॥८॥

'सविता देव की तरह जिनके नियम अनुल्लङ्घनीय हैं ऐसे ५३ अक्षों का समूह स्वेच्छा से क्रीड़ा करता रहता है। अत्युग्र शूर वीर के क्रोध के सामने भी वे कभी विनम्र नहीं होते। साक्षात् सम्राट् इन्हें प्रणाम ही करता है।'

जिस प्रकार सूर्य अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं होता उसी प्रकार इन प्रतापी पासों का समूह भी स्वाभीष्ट मार्ग का ही अनुसरण करता है। कोई यह चाहे कि मैं अपने भय से इन्हें झुकाकर अपने पक्ष में कर लूँ, तो यह असम्भव है। ये किसी से नहीं झुकते, अपितु तथ्य तो यह है कि जूआ खेलने के समय राजा भी इनका ही प्रभुत्व स्वीकार करके इन्हें प्रणाम करता है।

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥

'ये अक्ष नीचे (द्यूतपट पर) पड़े रहते हैं, लेकिन द्यूतकार के ऊपर (रहने वाले हृदय को) काटते रहते हैं। ये स्वयं बिना हाथ के होकर भी हाथ वाले द्यूतकार को परास्त करते हैं। द्यूतपट पर फैले हुए ये स्वर्गीय धधकते अङ्गार स्वयं शीतल होकर भी द्यूतकार के हृदय को जला देते हैं।'

इस मन्त्र में बहुत ही काव्यात्मक आलंकारिक ढंग से पासों का महत्त्व और उनकी अतुलित शक्ति बताई गई है। विद्वानों द्वारा इसमें एक साथ विरोधाभास, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा और विभावना अलंकार माने गये हैं।

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥१०॥

'द्यूतकार की धनहीन बनी हुई पत्नी और कहीं और भटकते हुए इस (कुलाङ्गार) पुत्र की मां मन में जलती रहती है और (सिरपर) दूसरों के ऋण का बोझ होने से धन की अभिलाषा रखने वाला वह डरते-डरते रात्रि के समय (छिपते हुए चोरी के लिये) दूसरों के घर जाता है।'

हारा हुआ जुआरी घर आकर क्या मुँह दिखाये, इसीलिए वह इधर-उधर घूमता रहता है। उसकी पत्नी और माता दोनों उसके वियोग में सन्तप्त रहती हैं। वह ऋण लेता रहता है, पर उसे उतार नहीं पाता। दिन भर जुआ खेलता है और रात को फिर ऋण मांगने के लिए दूसरे लोगों के घर के चक्कर काटता रहता है। क्योंकि वे लोग तो रात को ही मिलेंगे—दिन में वे अपने-अपने कार्य में व्यस्त रहते हैं।

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥

'दूसरों की भार्या बनी हुई स्त्री को और उनका सुन्दर सजाया हुआ घर देखकर द्यूतकार को अत्यधिक मानसिक पीड़ा होती है। क्योंकि यद्यपि दिन के पूर्वार्ध में इन सुनहले घोड़ों को (अक्षों को) उसने (अपने मनरूपी रथ पर) जोता था तो भी (शाम के समय) भिखारी बनकर अपने चूल्हे की आग के पास वह खाली पड़ा रहा था।'

हारे हुए जुआरी की जो दशा हुई है कि उसकी पत्नी दूसरों की बनकर उनके घर में रही है और उनके घर सुन्दर सुशोभित सुखपूर्ण हैं, उस स्थिति ने उसे अत्यधिक सन्तप्त किया है। फिर भी वह जीतने की आशा में प्रातः से पासोंरूपी घोड़ों को द्यूतपटलरूपी मैदान पर दौड़ाता है। किन्तु निराशा उसके हाथ लगती है और रात को फिर वह घर आने का साहस न करके नीचे भूमि पर शीतसे बचने के लिये कहीं लोगों द्वारा जलाई गई आग के निकट पड़ा रहता है।

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥१२॥

'जो तुम्हारे इस महान् गण का सेनानी (प्रधान अक्ष) होगा, या जो तुम्हारे इस समुदाय का प्रमुख राजा होगा उसके सामने मैं अपने हाथों की दसों अंगुलियां फैला कर दिखाता हूँ और मैंने किसी भी प्रकार का धन छिपाकर पीछे नहीं रखा है यह एकदम सत्य ही मैं कहता हूँ।'

यह एक निराश जुआरी की उक्ति है। अब वह पासोंरूपी देवों के प्रमुख के सम्मुख अपनी स्थिति स्पष्ट करता है। उसी को वह नमस्कार करता है। वह बताता है कि मैंने कभी धन को रोका नहीं जिससे पासे रुष्ट न हो जायें और अब मैं सत्य कहता हूँ कि प्रतिज्ञापूर्वक इन दस अंगुलियों अर्थात् दोनों हाथों को जूए से हटा रहा हूँ। पूर्वोक्त मन्त्रों में वर्णित महती कष्टानुभूति के पश्चात् जुआरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता है।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

'अक्षों से द्यूत मत खेलो, खेत में (हल को जोतकर) कृषि ही करो। उसी में धन्यता मानकर धन में रममाण हो जाओ। हे द्यूतकार, उसीसे गौएं और जाया इन दोनों का भी लाभ होता है। श्रेष्ठ ज्ञानी यह सविता देव भी मुझसे वही कहता है।'

कटु अनुभव प्राप्त करके शिक्षा ग्रहण करने वाले जुआरी का यह आत्मनिवेदन है। अब वह जान गया है कि अपने हाथ से कार्य करके आजीविका प्राप्त करने से अच्छा और कुछ भी नहीं है। यह शिक्षा उसने अपने आस पास महाशक्तियों का निरीक्षण करके प्राप्त की है। सविता अर्थात्-सूर्य सदा गतिशील रहता है (**पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्**)। इसी कारण यहां सविता का अर्य (**ऋगतौ से निष्पन्न**) विशेषण साभिप्राय है। अन्यथा अर्य का अर्थ स्वामी है किन्तु उसमें भी सम्भवतया मूलभावना यही है कि जो कार्य निरत रहता है, वही सबका स्वामी हो सकता है।

मित्रं कृणुध्वं खलु मृडता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु ॥१४॥

'हे अक्षो, हमारी मित्रता स्वीकार करो और सचमुच हम पर दया करो। धृष्टता से अपना भयंकर स्वरूप दिखाकर अपनी मोहिनी का प्रयोग हमारे ऊपर मत करो। हमारे विषय में तुम्हारे मन में विद्यमान क्रोध और शत्रुभाव समाप्त हो जाये। और इस समय हमसे अन्य मनुष्य (जो हमारे शत्रु हैं) तुम्हारे—पीतवर्ण अक्षों के जाल में फंस जायें।'

अन्त में जुआरी पासों से प्रार्थना करता है कि वे उसके मित्र हो जायें और उसे अपने जाल में फंसा कर कष्ट न दें। अब वह अपना पूर्ण जीवन सुधारना चाहता है, इसलिये वह द्यूतक्रीड़ा से पृथक् होना चाहता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार से अक्ष देवताओं का उसके प्रति क्रोध और दानहीनता की भावना शांत हो जायेंगे। अब तो कोई

दूसरा ही उसके समान दुःखी होकर शिक्षा ग्रहण करने के लिए बभ्रु वर्ण पासों के बन्धन में फंसेगा।

एक छोटे से सूक्त में प्रस्तुत जुआरी का यह आत्म-प्रलाप निस्सन्देह सहृदय पाठक के चित्त पर अमिट छाप छोड़े बिना नहीं रहता। जुए के दुष्परिणामों और एक जुआरी की दुर्दशा का इससे अधिक मार्मिक वर्णन और क्या हो सकता है?

उदात्त जीवन

वैदिक दर्शन इस विश्व को मिथ्या, भ्रम अथवा ब्रह्म की माया या छाया नहीं मानता। इस दर्शन के अनुसार प्रकृति भी ब्रह्म की तरह अनादि और अनन्त है। इसमें उत्पन्न होने वाले जीवों की भी अपनी पारमार्थिक सत्ता है। यहां पर हर जीवन की सार्थकता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त शरीर प्राणी के लाभ एवं उपयोग के लिए है। उसकी दी हुई अन्य भौतिक वस्तुएँ भी जीव के उपयोग के लिए हैं। उनमें हेयता या तुच्छता कैसी ? इस प्रकार यह विश्व दुःखरूप, मिथ्या व भ्रांति नहीं हो सकता। अतः संसार को दुःखमय मानकर उससे डर कर भागने का उपदेश यहां नहीं मिलता। यहाँ तो हर ऋषि अपनी सब इन्द्रियों के उपयोग-सामर्थ्य को रखते हुए पूरे सौ वर्ष व इससे भी अधिक ही जीना चाहता है। उसे जीवन के सब वैभव चाहियें---दुधारू गौएं चाहियें, प्रजननशक्तिसम्पन्न सांड चाहियें, तीव्रगामी बलवान् घोड़े चाहियें, उत्तम रथ चाहियें, अन्न चाहिये, धन चाहिये, स्वर्ण चाहिये, वीरपुत्र चाहियें।

यह सृष्टि जैसी दिखाई देती है वैदिक दर्शन उसे वैसा ही मानता है। उसकी सत्ता को सर्वथा स्वीकार करता है। इससे आंखें मूंदने अथवा भाग जाने का उपदेश नहीं देता। किंतु वेद इस ध्रुव सत्य को भी बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी दिन इस संसार को छोड़ना भी पड़ता है। यह संसार और सांसारिक विषय ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। अतः जीवन का सुख इसी में है कि मनुष्य भोगों को भोगता हुआ भी उनमें लिप्त न हो---**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे (यजु० ४०।२)**। संसार को भोगो किंतु त्याग-

पूर्वक--'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: (यजु० ४०।१)। इस प्रकार वेद भोग और त्याग के संतुलित समन्वय द्वारा मानव की ऐहिक और पारलौकिक उभयविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। वैदिक संस्कृति मानव जीवन में उत्कृष्ट का, पवित्रता का, समता का, माधुर्य का संचार करती हुई अमृतत्त्व के उदात्ततम लक्ष्य की ओर उसे प्रेरित करती है।

अतएव वेद में धर्म-कर्म, विज्ञान-दर्शन एवं उपासना-योग कोई पृथक् विषय नहीं हैं। वहाँ जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक अविच्छिन्न इकाईहै। वहाँ व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियों का उपयोग कर एक ऐसी पूर्ण और सहज जीवनपद्धति के विकास पर बल दिया जाता है जो भौतिक एवं मानसिक शक्तियों के सर्वांग सुन्दर विकास और समाज निर्माण के मार्ग में सहयोगी बन सके।

यज्ञमय जीवन की सफलता

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में यज्ञमय परमात्मा से संसार की उत्पत्ति का वर्णन है कि सृष्टि का सृजन करते समय आदिपुरुष ने अपनी निरन्तर आहुति देकर संसार की प्रत्येक चीज़ बनाई। ब्रह्माण्ड में निरन्तर एक यज्ञ हो रहा है। ब्रह्माण्ड में जो यज्ञ हो रहा है वह परोपकारार्थ है। अत: यज्ञ का सबसे प्रधान गुण त्याग है। इसके विना यज्ञ के अन्य अङ्ग सर्वथा पंगु हो जाते हैं। यज्ञ का भाव है कि मनुष्य के पास अपनी सत्ता में जो कुछ है उसे वह ब्रह्मार्पण कर दे। भगवान् मनु का कथन है कि पंचमहायज्ञों व इतरयज्ञों के अनुष्ठान से मनुष्य अपने शरीर को ब्राह्म अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधाररूप बना लेता है —

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः (मनु० २।२८)

शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त मार्मिक ढंग से अग्निहोत्र कर्म से सम्बद्ध विभिन्न वस्तुओं की आध्यात्मिक व्याख्या की गई है। इसमें बताया गया है कि यज्ञ केवल भौतिक ही नहीं होता, अपितु उसका मर्म समझने के लिए या उसका उत्कृष्ट फल प्राप्त करने के

लिए उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझ कर उसका आध्यात्मिक अनुष्ठान करना आवश्यक है। संदर्भ इस प्रकार है 'अग्निहोत्री गौ इस अग्निहोत्र की वाणी है। उसका बछड़ा इसका मन ही है। तो यह मन और वाणी समान से होते हुए भी भिन्न हैं। अतः बछड़े और उसकी माता को एक समान रस्सी से बांधते हैं। तेज अर्थात् अग्नि ही अग्नि होत्र की श्रद्धा तथा उसका आज्य (घी) सत्य है।...उस याज्ञवल्क्य ने कहा—'निश्चय ही यहां तब (सृष्टि के आरम्भ में) कुछ भी नहीं था, फिर भी सत्य का श्रद्धा में हवन किया जाता था।' (द्र० शत० ब्रा० ११।६।६)

वस्तुतः यज्ञ वैदिक जीवन का आधार है। यह वह धुरी है जिस पर ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, दर्शन विज्ञान आदि अपना कृत्य पूरा करते हैं। यज्ञ उस आंतरिक और बाह्य प्रक्रिया का नाम है जिसके द्वारा यजमान यज्ञपुरुष के प्रति समर्पित हो जाता है।

अतः वेद के अनेकानेक मंत्रों में यज्ञ द्वारा सर्वविध ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त कर जीवन को सफल बनाने का दिव्य सन्देश है—

वाजश्च मे प्रसवश्च मे
प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे
धीतिश्च मे क्रतुश्च मे
स्वरश्च मे श्लोकश्च मे
श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे
ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥

प्राणश्च मे ऽपानश्च मे
व्यानश्च मे ऽसुश्च मे
चित्तं च मे आधीतं च मे
वाक् च मे मनश्च मे
दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥२॥

ओजश्च मे सहश्च मे
आत्मा च मे तनूश्च मे
शर्म च मे वर्म च मे
ऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे
परूंषि च मे शरीराणि च मे
आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३॥

रयिश्च मे रायश्च मे
पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे
विभु च मे प्रभु च मे
पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे
कुयवं च मे ऽक्षितं च मे
ऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥४॥

वित्तं च मे वेद्यं च मे
भूतं च मे भविष्यच्च मे
सुगं च मे सुपथ्यं च मे
ऋद्धं च मे ऋद्धिश्च मे
क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे
मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥५॥
(यजु० १८।१-३,१०-११)

हे ब्रह्मणस्पते ! यज्ञ के द्वारा अन्न, बल और मेरी वृद्धि की शक्ति समुन्नत हों। मेरा दान और मेरा आदान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी स्तुति और मेरा धर्म-कर्म यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा बोल और मेरा श्लोक यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सुना-सुनाया और मेरा पढ़ा-पढ़ाया यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी ज्योति और मेरा उत्तम सुख यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

मेरा प्राण और मेरा अपान यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा व्यान और श्वास यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा चित्त और मेरा चिन्तन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी वाणी और मेरा मन यज्ञ के

द्वारा समुन्नत हों। मेरे चक्षु और श्रोत्र यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी क्षमता और मेरा बल यज्ञ के द्वारा समून्नत हों।

मेरा ओज और मेरा वल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी आत्मा और मेरा तन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा चर्म और मेरी खाल यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा अंग और मेरी अस्थियां यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरे जोड़ और मेरी संधियां यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी आयु और मेरा बुढ़ापा यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

मेरा धन मेरी सम्पत्ति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा पोषण और मेरी पुष्टि यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा वैभव और मेरी प्रभुता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी पूर्णता और मेरी अतिशय पूर्णताभरी स्थिति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी प्रचुरता और मेरी अक्षीणता यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा अन्न और मेरी तृप्ति अन्न के द्वारा समुन्नत हों।

मेरा प्राप्त किया जा चुका और प्राप्त किया जाने वाला यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा भूत और भविष्यत् यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा स्वास्थ्य और मेरे स्वास्थ्य का उत्तम साधन यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरा सामर्थ्य और मेरी सामर्थ्य की साधना यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों। मेरी मति और मेरी सुमति यज्ञ के द्वारा समुन्नत हों।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्ति यजमानं च वर्धय॥

ब्रह्मणस्पते (वाणी के देवता)! उठो, देवताओं को यज्ञ का संदेश सुनाओ। आयु बढ़ाओ। प्राण बढ़ाओ। पशु बढ़ाओ। कीर्ति बढ़ाओ। यज्ञ-कारी को (हर प्रकार से) बढ़ाओ।

ओजपूर्ण तेजस्वी जीवन

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि,
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि,

ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ (यजु० १६।६)

हे प्रभो !

आप तेज-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए !
आप वीर्य-रूप हैं मुझे वीर्यवान् कीजिए !
आप बल-रूप हैं, मुझे बलवान् बनाइए !
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए !
आप मन्यु-रूप हैं, मुझमें मन्यु की धारणा कीजिए !
आप सहस्-स्वरूप हैं मुझे सहस्वान् कीजिए !

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥
या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पूरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥२॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥३॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥४॥
(अथ०६।३८।१-४)

सिंह में, व्याघ्र में, चीते में, ब्राह्मण में, सूर्य में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) जिस (शक्ति रूपिणी) देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

(हाथी में, सुवर्ण में, जलों में, गौओं में, पुरुषों में जिस (स्वाभाविक शक्ति का) प्रकाश हो रहा है, वही मेरे अन्दर भी हो। जिस देवी भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है, वह तेज-पुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

रथ में, छुरों में, बैल के बल में, वायु में, मेघ में, वरुण की शूक में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश हो रहा है, (वही मेरे अन्दर भी हो) जिस (स्वाभाविक शक्तिरूपिणी) भगवती ने इन्द्र (तक) को प्रकट कर रखा है वह तेज-पुंजको साथ लिए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

शासक गण में, दुन्दुभि की दीर्घ (ध्वनि) में, अश्वबल में, पुरुष की ललकार में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रकाश हो रहा है वही मेरे अन्दर भी हों। जिस देवी भगवती ने इन्द्र को प्रकट कर रखा है वह तेजपुंज को साथ लिए हुए हमें भी आकर कृतार्थ करे।

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥१॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु।
देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वऽन्तः।
येन देवा देवतान्ग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसा वर्चस्विनं कृणु ॥३॥
यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥४॥
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥५॥
हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाऽभिषिञ्चामि मामहम् ॥६॥

(अथ० ३।२२।१-६)

हस्ति-बल की महाकीर्ति सर्वत्र फैल रही है। यह साक्षात् अदिति देवी की उपज है। सब देवता और अदिति देवी अपने प्रसाद के रूप में मुझे वह महाबल प्रदान करें।

मित्र देवता, वरुण देवता, इन्द्र देवता और रुद्र देवता (मेरा) ध्यान रखें। (वे) देवता (ही) सबके आधार हैं। वे ही मुझे तेज की चमक प्रदान करें।

जिस वर्चस् से हाथी प्रभावशाली होता है, जिस वर्चस् से राजा मनुष्यों के अन्दर प्रभावशाली होता है और वरुण राजा जलों के अन्दर प्रभावशाली होता है जिस वर्चस् से देवता पहले देवताओं की पदवी को प्राप्त हुए। हे अग्निदेव ! अब मुझे उसी वर्चस् से युक्त करके वर्चस्वी बनाओ।

हे जातवेदस् ! आहुति पड़ने पर जो तेरा तेज और महान् हो जाता है, जितना सूर्य का और बड़े हाथी का तेज होता है। हे पुष्कल वीर्य वाले अश्वी देवताओ ! उस और उतने तेज को मुझे प्रदान करो।

चारों दिशाओं में जितनी दूर दृष्टि पहुंच पाती है, उतना (विशाल स्वरूप धारण करता हुआ) शक्तिशाली बनाने वाला, वह हाथी का वर्चस् मुझे प्राप्त हो।

बड़प्पन वाले पशुओं के मध्य में हाथी बढ़ चढ़ कर स्थिति वाला बना है। मैं उसके प्रतापी तेज से अपने आपको अभिषिक्त करता हूँ।

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ १ ॥
वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं, वाजो देवां ऋतुभिः कल्पयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् ॥२॥
वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार, सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥३॥

(यजु० १८।३२-३४)

हमारा बल सातों दिशाओं में व्याप्त होने वाला हो। हमारा बल चारों कोटों में व्याप्त होने वाला हो। हम धन-ऐश्वर्य को पैदा करें। हमारे इस कार्य में सब देवताओं से मिलकर हमारा अपना बल हमारा सहायक बने।

हमारा बल अब हमारी दान-शक्ति को बढ़ाता रहे। हमारे बल ने हमें पूर्ण स्वस्थ बनाया है। हम ऐसे बल को दृढ़तापूर्वक धारण करते हुए सब दिशाओं में अपनी विजयपताका फहराते रहें।

हमारा बल हमें आगे आगे बढ़ाता रहे। हमारा बल बीच में (जहाँ हम खड़े हों) हमारी रक्षा करे। हमारा बल देव-पूजा में अधिक लगा रहे। मेरा बल ही मुझे सर्वथा स्वस्थ बनाए हुए है। मैं जिस दिशा में भी निकलूँ, मेरा बल मेरा साथ दे।

शारीरिक स्वास्थ्य की प्रार्थना

वैदिक ऋषि कामना करता है कि उसके समस्त अंग पूर्ण स्वास्थ्य से अपना-अपना कार्य करें। वाणी, प्राण, आंख और कान अपना-अपना काम ठीक तरह से कर सकें। बाल काले रहें। दांतों में कोई रोग न हो। बाहुओं में बहुत बल हो। ऊरुओं में ओज, जांघों में वेग और पैरों में दृढ़ता हो—

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोश्श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहुबाह्वोर्बलम् ॥१॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा।
अरिष्टानि (मेऽङ्गानि) सर्वाऽऽत्मा(ऽतिपुष्टः) ॥२॥

(अथ० १९।६०।१,२)

अर्थात्—'मेरे मुख में उत्तम वक्तृत्व शक्ति रहे, मेरे नाक में बलवान् प्राण संचार करता रहे, मेरी आंखों में उत्तम दर्शनशक्ति रहे, मेरे कानों में उत्तम श्रवणशक्ति रहे, मेरे बाल श्वेत न हों, मेरे दांत मलिन न हों, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे, मेरी जांघों में बड़ी शक्ति रहे, मेरी पिंडरियों में बड़ा वेग रहे, मेरे पांवों में स्थिरता रहे, पांव कभी कांपने न लगें, मेरे सभी अंग अच्छी अवस्था में रहें—रोगी न हों, मेरा आत्मा अति पुष्ट हो तथा निरुत्साहित न हो।'

मधुर-जीवन

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥१॥
सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।

विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥२॥
यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥३॥
यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥४॥
(अथ०९।१।१४-१७)

'मैं मिठास को पैदा करूँ। मैं मिठास को आगे बढ़ाऊँ। हे अग्नि देव! मैं पुष्टि से भरा हुआ आया हूँ। मुझे तेजस्वी व प्रतापी बनाओ।

हे अग्निदेव! मुझे प्रताप से युक्त करो। मुझे प्रजा से युक्त करो। मुझे आयु से युक्त करो। देवताओं तक मेरी पूछ-प्रतीनि हो। इन्द्र तक और ऋषियों तक मेरी पूछ प्रतीति हो।

जैसे मधु-मक्खियाँ मधु के ऊपर मधु जोड़ती रहती हैं, हे अश्विनी देवो! वैसे ही मेरे अन्दर तेज के ऊपर तेज नित्य जुड़ता रहे।

जैसे मधु-मक्खियां मधु के ऊपर मधु थोपती जाती हैं। हे अश्विनी देवो! वैसे ही मुझमें प्रताप, तेज, बल और ओज एकत्रित होता रहे।

पवित्र जीवन

यत् ते पवित्रमर्चिषि अग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥१॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि, पवमानः पुनातु मा ॥२॥
पवमानः पुनातु मा क्रतवे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्टतातये ॥३॥
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥४॥
(ऋ० ९।६७।२३। यजु० ६।१९।१-३)

'हे अग्निदेव ! जो पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में लस-लस कर रहा है, उससे हमें पवित्र करो ।

देव-जन मेरे विचार पवित्र करें । सब भूतगण मेरे विचार पवित्र करें । पवित्रकारी भगवान् मुझे पवित्र करें ।

पवित्रकारी भगवान् मुझे पवित्र करे । मेरें अन्दर भक्ति-भाव तथा कर्मण्यता का विकास हो । मुझे जीवन और आरोग्य प्राप्त हो ।

हे सविता देव ! पवित्रता और प्रेरणा दोनों द्वारा हमें पवित्र करो। हम देखकर चलने वाले बनें । हमें पवित्र करो ।

सम्पुष्ट जीवन

सं संस्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां सं स्राव्येण हविषा जुहोमि ।।१।।
इहैव हवमायात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वो यः पशुर् अस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ।।२।।
ये नदीनां संस्रवन्ति, उत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैं संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ।।३।।
ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिः मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ।।४।।
रूपं-रूपं वयो-वयः संरभ्यैनं परिष्वजे ।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ।।५।।
(ऋ० १।१५।१-४, अथ० १९।१।३)

'नदियां सम्पुष्ट होती हुई खूब बहें । वायु सम्पुष्ट होती हुई खूब चले । पक्षी सम्पुष्ट होते हुए खूब उड़ें । मैं खूब धारावाहिनी आहुति से इस यज्ञ को करता हूँ । उत्कृष्ट देवगण मेरे इस यज्ञ को स्वीकार करें ।

हे मिलकर बोलने वाले पुरोहितो ! आओ ! मेरे इस यज्ञ में आकर बैठो और इसका विस्तार करो । (सुख के साधन रूप) सब पशु मुझे प्राप्त हों । जो धन-सम्पत्ति है, वह मुझमें स्थिरभाव से रहे ।

जिस प्रकार नदियों से सोते सदा अक्षीण भाव से (अपनी-अपनी धाराओं को आपस में) मिलाते हुए बहते हैं, उसी प्रकार धन की सभी धाराओं को मिलाकर हम अपनी ओर बहाते हैं।

जैसे घृत (और) और जल की अपनी-अपनी धाराओं के आपस में मिलने से उनके) संयुक्त बहाव बहते हैं, वैसे ही (बड़े-बड़े) संयुक्त बहावों से हम धन को (समेट कर) अपनी ओर बहा कर ले आते हैं।

इस (जीवन-सम्पोषक) यज्ञ का सब दिशाओं में विस्तार हो। मैं खूब धारावाहिनी आहुति से इसे सम्पन्न करता हूं। मैं प्रत्येक पशु और प्रत्येक पक्षी को घेरे में लेकर इसको घेरता हूँ।

मृत्यु-निवारण

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे॥
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥१॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥२॥

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥३॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥५॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधद् अयमग्निर्वरेण्यः॥६॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥७॥

(अथ० ५।३०।१७; ७।५३।२-६,८।१।२१)

'यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहां पराजय का क्या काम? तुम जिस मौत के प्रति (पराजित) संकल्पों से जा चुके हो, हम उसे (अपने वश में करके) तुम्हें वापिस बुलाते हैं। बुढ़ापे से पहले (अब) तुम मरने के नहीं।

तुम्हारे प्राण और अपान (फिर से) चलने लग जाएँ (तुम्हारे) शरीर को छोड़ मत जाएँ। यह इसके अन्दर मिले हुए (अपना-अपना कार्य करने वाले) हों। तुम बढ़े चलो। तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो। स्वयं (प्राणस्वरूप) अग्निदेव तुम्हारा रक्षक और सर्वोत्तम अधिपति है।

जो तुम्हारा जीवन निकल कर दूर ही जा पहुँचा था, मेरे द्वारा किए जा रहे उपाय से तुम्हारे प्राण और आपान पुनः तुम्हारे अन्दर लौट कर आ रहे हैं। अग्निदेव ! तुम्हारे जीवन को मौत के घर से लौटा आया है। अब उसे मैं तुम्हारे अन्दर भरे देता हूँ।

न इसे प्राण छोड़े और न ही इसे अपान छोड़ कर भाग निकले। मैं इसे सनातन सप्तऋषियों के सामने स्थापित कर रहा हूँ ताकि वे इसे सुखपूर्वक बड़ी आयु (प्रदान करने के लिए) बढ़ाते रहें।

हे प्राण ! हे अपान ! आओ इस के शरीर में प्रवेश करो। जैसे बैल (सूने) बाड़े में प्रवेश करके उसे आबाद कर देते हैं ऐसे ही तुम इसमें जीवन का संचार कर दो। यह पक्की आयु भोगने वाला बने। यह नीरोग रहे। यह बढ़ता रहे।

हम तेरे अन्दर प्राण-शक्ति को लाकर भर देते हैं। हम तेरे क्षय-रोग को दूर भगा देते हैं। यह परम सनातन अग्निदेव हमें सब ओर से जीवन प्रदान करता रहे।

ले देख ! तेरा सांस चल पड़ा है। तेरी आंख की ज्योति जग पड़ी है। तेरा अंधेरा दूर भाग गया है। यह लो मौत को, दुःख-दर्द को, रोग-शोक को तुझसे दूर ले जाकर भूमि के अन्दर हम गहरा दबाए देते हैं।

उदात्त समष्टि-भावना

वैदिक दर्शन के अनुसार परमेश्वर ही समस्त जड़-चेतन सृष्टि का जनक होने से सब छोटे-बड़े प्राणियों का पिता व माता है--

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे । (ऋ०८।९८।११)

हे प्रकाशस्वरूप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर, तुम ही हमारे सच्चे पिता हो और तुम ही हमारी सच्ची माता हो । अतः हम तुमसे यही वरदान मांगते हैं कि तुम्हारी प्रसाद भरी दृष्टि हम पर सदा पड़ती रहे ।

इत्यादि सैकड़ों मंत्रों में परमपिता परमेश्वर को सब प्राणियों का पिता तथा सब प्राणियों को उसी परमपिता की संतान घोषित कर प्राणीमात्र के प्रति समदृष्टि की भावना उत्पन्न की गई है । वेद की दृष्टि में परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वनियन्ता है । उसके नियम अटल हैं । सदाचार और समष्टि-भावना से ह व्यक्ति आत्मदर्शन करके ब्रह्म-साक्षात्कार के लक्ष्य तक पहुंच सकता है । इस प्रकार वेद समता, संगठन, भ्रातृभाव एवं विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण है । प्राणीमात्र में आत्मतत्त्व के दर्शन कराने वाले इस उदात्त वैदिक धर्म एवं इस विश्ववारा संस्कृति में किसी प्रकार के द्वेष, भेदभाव और अत्याचार की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती । वेद स्वयं कहता है कि आत्मदर्शी के लिए तो समस्त विश्व एक घोंसले की तरह बन जाता है --'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । 'वस्तुतः वेद में किसी वर्ग, जाति व सम्प्रदाय को लक्ष्य करने का विचार नहीं किया गया, अपितु समस्त मानवजाति को लक्ष्य मानकर व्यष्टि के अभ्युदय और निःश्रेयस् का मार्ग बतलाया गया है ।

परिवार के सदस्यों में सौमनस्य

वेदों में सांमनस्य-सूक्तों में गृहस्थ-जीवन के संबंध में जो उदात्त भाव प्रकट किये गये हैं, वे भी वैदिक धारा की महान् निधि हैं। "इनमें सभी जनों में समभाव तथा परस्पर सौहार्द्र की भावना व्यक्त की गई है। यह अभिलाषा प्रकट की गई है कि परिवार के सभी सम्बन्धी प्रेम-पूर्वक मिल जुलकर रहें, क्योंकि समाज का मूल परिवार ही है। सब एक दूसरे से मधुर वाणी में बोलें और सबके मन एक-समान हों। उनमें एक दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति हो। यह सौमनस्य प्रत्येक काल में रहें जिससे समाज में कलह न हो और सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहे, फलतः राष्ट्र उन्नति करे ग्रौर समृद्धि की प्राप्ति हो। स्नेह और सौहार्द्र का यह संदेश आज के स्वार्थपरक युग में ग्रौर भी ग्रावश्यक है।" (वैदिक संग्रह, पृ. १८६)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
ग्रन्यो ग्रन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।।१।।
ग्रनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।।२।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।३।।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ।।४।।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः।
ग्रन्यो ग्रन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।।५।।
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित ।।६।।
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो ग्रस्तु ।।७।।

ग्रर्थात्—'मैं तुमको समान हृदय और सम-मन-भाव वाला बनाता

हूँ। मैं तुम्हें विद्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जिस प्रकार गाय अपने नवजात बच्चे से प्रेम करती है।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ समान मन वाला (प्रीति युक्त) हो। पत्नी अपने पति के साथ मधुर एवं शांतसुखद भाषण करने वाली हो।

भाई-भाई के साथ और बहिन के साथ द्वेष न करे। भाई बहिन भी परस्पर द्वेष न करें। वे सब समानगति और समव्रत होकर एक दूसरे के साथ सुखदायक प्रेमपूर्वक भाषण करें।

जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् लोग परस्पर पृथक् भाव वाले नहीं होते और परस्पर में कभी द्वेष नहीं करते, मैं उसी व्यवहार को समान ज्ञान (गृहस्थ) पुरुषों के लिए निश्चित करता हूँ।

बड़ों की बात मानने वाले तथा मन लगाकर काम करने वाले तुम लोग आपस में वैर-विरोध न करते हुए समोद्देश्य ले परस्पर प्रीति पूर्वक व्यवहार करते हुए धनैश्वर्य को प्राप्त होओ। सहकारी तुमको सममन करता हूँ।

एक साथ मिलकर पीओ और एक साथ मिलकर खाओ। मैं तुमको एक साथ प्रेमसूत्र में बांधता हूँ। जिस तरह पहिए के अरे एक केन्द्र के चारों ओर घूमते हैं उसी तरह तुम गृहस्थरूपी केन्द्र के चारों ओर प्रेममय व्यवहार करते हुए बरतो।

साथ-साथ चलने वाले, साथ-साथ काम करने वाले तथा एक समान गति वाले तुम लोगों को समानमन करता हूँ। अमरत्व व दीर्घायुष्य का रक्षण करने वाले विद्वानों का मनोभाव जिस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार तुम्हारा मनोभाव भी सायं प्रातः शुभ ही हो।

'प्रथम मंत्र में हृदय की समानता, मन की समानता और विद्वेष शून्यता की जो उपमा यहां दी गई है, उससे अधिक उपयुक्त उपमा इस प्रसंग में और कोई नहीं हो सकती। नवजात बछड़े के साथ गौ

पूर्णतया एकरूप होती है। बछड़े का तनिक सा कष्ट भी मानो उसका अपना कष्ट होता है। यह समानता केवल शारीरिक नहीं है, हार्दिक और मानसिक है। दूसरे मंत्र का आशय यह है कि समाज में सम-भावना का आधार परिवार है। अतः सन्तति का माता-पिता के प्रति स्नेह और आज्ञाकारिता उसका प्रथम चरण है। इसी प्रकार जिस घर में पति और पत्नी में मधुर सम्बन्ध नहीं होगा, वहां समाज में भी उसका प्रतिफल लक्षित होगा। घरेलू असंतोष से व्यक्ति बाहर के वातावरण को अनायास ही प्रभावित करता है। तीसरे मंत्र में कहा गया है कि भाई बहिन का स्नेह परिवार की दृढ़ता के लिए आधार का कार्य करता है। परिणामस्वरूप वे साथ साथ चलते हुए, समान नियमों का पालन करतेहुए, मधुर और सभ्य वाणी बोलते हुए समाज को उन्नति तथा सौमनस्य की ओर ले जाते हैं। चौथे मन्त्र का भाव है मनुष्य यदि परस्पर झगड़ते हैं तो दैवी शक्तियां भी मानो कलहरत हो जाती हैं अर्थात् उन शक्तियों से जो कुछ प्राप्त होता है, मनुष्य शांतिपूर्वक उसका उपयोग नहीं कर सकता। पुरुषों में समान ज्ञानवाली बुद्धि हो तो देवता अर्थात् दैवी-शक्तियां विमुख नहीं होतीं अर्थात् उनसे प्राप्त द्रव्यों का पुरुष सुखपूर्वक उपभोग करके समभाव से आनन्द को प्राप्त करते हैं। पांचवें मन्त्र में मिलकर साथ-साथ कर्म करने का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। सबको स्वार्थ छोड़ कर केवल एक उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर कार्य करना चाहिये। तभी कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। राष्ट्र की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। छठे मन्त्र में कहा गया है कि साथ-साथ खाना, पीना, उठना, बैठना हार्दिक सम्बन्ध का भी आधार होता है। प्रायः निकटता प्रकट करने के लिए साथ बैठकर खाना-पीना होता है। इसी प्रकार एक प्रकार के विचारों के व्यक्ति विविध प्रवृत्तियां और रुचियां होने पर भी अग्नि की सपर्या अर्थात् ईश्वर की पूजा में एक साथ मिल जाते हैं—ठीक वैसे ही जैसे विविध दिशाओं में निकली हुई पहिये की अरायें एक ही केन्द्र बिन्दु में मिली हुई होती हैं। सांतवें मन्त्र भी कहा गया है साथ-साथ चलने वाले,कार्य करने वाले, एक समान

गति वाले जनों का मन स्वाभाविक रूप से समान हो जाता है। अमरत्व या दीर्घायुष्य की रक्षा करती हुई दिव्य शक्तियों का मनोभाव जस प्रकार एक जैसा शुभ होता है, उसी प्रकार समान भावना वाले देशहित के एक उद्देश्य में निरत जनों का मनोभाव भी शुभ ही हो।' (वैदिक संग्रह, पृ. १८८-१९५)

जन-कल्याण की भावना

ऋग्वेद में कहा है कि मनुष्य को मनुष्य की सब ढंग से रक्षा और सहायता करनी चाहिए पुमान् पुमाँसं परिपातु विश्वतः (ऋ० ६।७५।१४) अथर्ववेद में भी कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भावना का विस्तार हो——

तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः। (अथ० ३।३०।४)

वेद इस तथ्य से अपरिचित नहीं है कि मनुष्यों के विभिन्न वर्गों में अनेक प्रकार के विरोध या संघर्ष रहते ही हैं——

पुरुद्रुहो क्षितयो जनानाम्। (ऋ० ३।१८।१)

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषाद इस पांचों प्रकार के मानव संघों का हित करना 'पांचजन्य' शब्द ने वेद में बताया है। इसी प्रकार नरों का जो हित करता है वह 'नर्य' (नरेभ्यः हितः) कहलाता है।

त्वम् आविथ नर्यम्। (ऋ० १।५४।६)

तू नरों का हित करने वाले का संरक्षण करता है।

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु (ऋ० १।१६६।१०)

वीरों के बाहु मानवों का हित करने वाले हैं और उन बाहुओं में बहुत कल्याण करने वाले सामर्थ्य हैं।

इन्द्राय नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् (ऋ० ४।२५।४)

यह नेता इन्द्र लोगों को सन्मार्ग से ले चलता है, मानवों का हित करता है (नर्याय) और मानवों में सर्वश्रेष्ठ है (नृणां नृतमाय)।

सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव (ऋ० ६।७५।५)

मित्र जिस प्रकार मित्र का सहायक होता है वैसा तू सब मानवों का हित करने वाला बन और उनका तेज बढ़ा।"

नृणां नर्यो नृतमः (ऋ०१०।२९।१)

मानवों में श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है।

इसी प्रकार वेद में 'मर्य' शब्द का प्रयोग भी मनुष्यों का हितकारक है। आ० सायण को भी यही अर्थ अभिप्रेत है—**मर्या मनुष्येभ्यो हिताः (भाष्य-ऋ०५।५३।३)**

"इस तरह 'पांचजन्य, नर्य और मर्य' इन पदों से जनहित करने का व्रत जीवन में ढालने का उपदेश किया गया है। केवल 'सार्वजनिक हित' इतना ही न कहते हुए वेद ने कहा है 'पंचजनों का हित करो, नरों का हित करो' मर्त्यों का हित करो।' बात एक ही है। सब मानवों का हित करने का ही उद्देश्य है, परन्तु उसमें कितनी बारीकी वेद में कही है यह विचार की दृष्टि से देखने का यत्न यहां करने की आवश्यकता है।" (श्रीपाद सातवलेकर, **जनता का हित करने का कर्तव्य**,पृ० १७)। वेद की दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है—

ऋषिः स यो मनुर्हितः (ऋ०।१०।२६।५)

अकेले खाना पाप है

वेद में सहभाव के लिए सहभोजन पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा है—**सह भक्षः स्याम** (अथ० ६।४७।१) अर्थात् हम मिलकर खान-पान करने वाले हों। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी कहा है **सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे**(यजु० १८।९)अर्थात् अपने साथियों के [illegible] में सह-पान और सहभोज मुझे प्राप्त हों।

वेद कहता है **केवलाघोभवति केवलादी** अर्थात् "अकेला भोग भोगने वाला व्यक्ति पाप को ही भोगता है।" संसार में भूखे ही मरते हों ऐसा नहीं है। भरे पेट मनुष्य भी तो मर जाते हैं। अनेक व्यक्ति तो अधिक खाने से ही मर जाते हैं। इसलिए वेद में कहा गया है विद्वानों ने भूख को ही वध नहीं माना क्योंकि खा चुके हुए मनुष्य के

पास भी मृत्युएं नाना रूप में प्राप्त होती हैं तथा दूसरे को निज अन्न आदि धन से तृप्त करते हुए अन्न आदि धन क्षीण नहीं होता अपितु दूसरे की तृप्ति या बुभुक्षा-शान्ति न करता हुआ व्यक्ति सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता—

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यत्युपृणन् मर्डितारं न विन्दते ।।१।।

जो अन्न वाला होता हुआ भी दरिद्र या अपाहिज के लिए रोग आदि के द्वारा पीड़ित व्यक्ति के लिए, शरणागत कृश व्यक्ति के लिए तथा अन्न की कामना करते हुए विद्वान् भिक्षु के लिए अपने मन को ढीठ बनाए रखता है और स्वयं ही प्रथम अन्न का सेवन करता है। वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता—

य आध्राय चकमानस्य पित्वो ऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतोचित् स मर्डितारं न विन्दते ।।२।।

यहां वेद में चार प्रकार के व्यक्तियों को अन्न आदि देने का पात्र बतलाया हैं तथा कहा है कि जो इन चार प्रकार के व्यक्तियों को प्रथम भोजन न देकर इनसे पूर्व खा लेता है वह सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता। वेद कहता है कि वह मित्र नहीं जो साथ रहने वाले सखा के लिए अन्न नहीं देता है। उसका मित्र उससे अलग हो जाता है और यह मानता है कि वह रहने का स्थान नहीं है। वह अन्य सद्भाव से तृप्त करने वाले अपरिचित व्यक्ति तक को चाह सकता है—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ।३।।

इस प्रकार जो व्यक्ति समय पर काम आने वाले अपने मित्र का अन्न आदि से यथावसर स्वागतसत्कार नहीं करता या अवसर पड़ने पर प्रेम-पूर्वक खाने-पीने का आग्रह नहीं करता ऐसे शुष्क व्यक्ति से उसका मित्र अलग हो जाता है।। इस प्रकार वह व्यक्ति एक दिन सब मित्रों से वंचित हो जाता है।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥४॥

वेद आज्ञा देता है कि समृद्ध व्यक्ति को याचना करने वाले सुपात्र अतिथि आदि को तृप्त करना ही चाहिए। उसे उदारता के मार्ग को समझना चाहिए क्योंकि धन-सम्पत्तियां रथ के पहियों की भाँति सदा आवर्तन किया करती हैं तथा अन्य २ व्यक्तियों के पास आती जाती हैं—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राधीयाँसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा ऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥५॥

सचमुच जैसे गाड़ी के पहिये अभी यहां और अभी वहां इस प्रकार भूमियाँ बदला करते हैं ऐसे ही सम्पत्तियां भूमियां बदला करती हैं। देखते ही देखते करोड़पति कंगाल बन जाते हैं और कंगाल करोड़पति बन जाते हैं। अतः जब भी धन प्राप्त हो उसका सदुपयोग कर यश प्राप्त करना चाहिए। वेद कहता है कि "बेसमझ व्यक्ति व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। सच कहता हूँ वह अन्न उसके लिए घातक ही है जो अपने अन्न से न तो ईश्वरोपासक पूजनीय विद्वान् का पोषण करता है और न ही बन्धु-बान्धवों का। ऐसा वह मात्र स्वयं खाने वाला नितांत पापी होता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥
(ऋ०१०।११७।१-६)

समता की भावना

ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा है कि इन सब मनुष्यों में कोई न तो जन्म से बड़ा है और न कोई छोटा। सब सम्यक् भ्रातृभाव को धारण करते हुए ऐश्वर्य और उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते,
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ॥ (ऋ०५।६०।५)

इससे पूर्व के मन्त्र में भी कहा है कि "सब मनुष्य समान हैं। उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं। ये, अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं। ये महत्त्वकांक्षा से बढ़ते हैं, ये जन्म से कुलीन, दिव्य मर्त्य हैं"—

ते अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदो
ऽमध्यमासो सहसा वि वावृधुः।
सुजातसो जनूषा पृश्निमातरो
दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन ॥२॥ (ऋ५।५९।६)

इस मन्त्र का देवता 'मरुतः' है जिसका मनुष्यवाची होना "यद् यूयं पृश्निमातरो मार्तासः स्यातन" (ऋ० १।३८।४) "नरा अमृता ऋतज्ञाः सत्यश्रुतः कवयो युवानः (ऋ० ५।५७।८) इत्यादि मंत्रों में नर, मर्य, मर्त आदि मनुष्यवाचक शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है श्री सायणाचार्य का भी कथन है "मनुष्यरूपा वा मरुतः"।*एक ऋचा में कहा है "सब चलने वालों का मार्ग पर समान अधिकार है"---

समानो अध्वा प्रवतामनुष्यदे। (ऋ० २।१३।२)

अन्यत्र कहा है "सबका कल्याण सोचो चाहे शूद्र हो चाहे आर्य"—

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रोतार्ये। (अथ० १९।६२।१)

सहयोग और संगठन

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त समता, सहयोग और संगठन का अत्यन्त दिव्य [illegible] प्रस्तुत करता है—

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इलस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥

---

*द्र०--वैदिक कर्तव्यशास्त्र, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥३॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥
(ऋ० १०।१९१।१-४)

हे अग्ने ! तू सबका प्रेरक होकर समस्त प्राणियों और समस्त तत्त्वों को मिलाता है। प्रज्ज्वलित वह तू हमें नाना ऐश्वर्य प्राप्त करा।

हे मनुष्यो ! आप लोग परस्पर अच्छी प्रकार मिलकर रहें। परस्पर मिलकर प्रेम से वातचीत करो। विरोध छोड़ कर एक समान वचन कहो। आप लोगों के सब मन एक समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार पूर्व के विद्वान् जन सेवनीय और मनन करने योग्य प्रभु का ज्ञान सम्पादन करते हुए अच्छी प्रकार उपासना करते रहे हैं उसी प्रकार आप लोग भी ज्ञान सम्पन्न होकर सेवनीय अन्न और उपास्य भु का सेवन और उपासना करो।

इन सबका वचन एक और विचार एक समान हो। परस्पर संगीत (मेल जोल) व संगठन भी एक समान एवं भेद-भाव से रहित हो। इनका मन एक समान हो। इनका चित्त एक दूसरे के साथ मिला हो। मैं आप लोगों को एक समान विचारवान् करता हूं और एक समान अन्नादि पदार्थ प्रदान कर आप लोगों को पालित पोषित करता हूं।

आप लोगों का संकल्प और भाव-अभिप्राय एक समान रहें। आपके हृदय एक समान रहें। आप लोगों के मन समान हों जिससे तुम्हारी शोभन संगति हो (जनहित में) और आप लोगों का परस्पर का कार्य सदैव सहयोगपूर्वक अच्छे प्रकार हो सके।

"सम-भावना की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलंत उदाहरण है। इसमें सब जनों की क्रियाओं, गति, विचारों और मन-बुद्धि के पूर्ण सामञ्जस्य की प्रेरणा दी गई है। हम

यह कल्पना कर सकते हैं कि इस सूक्त में प्रार्थित समान विचारों वाली विवाद रहित सभा समाज का कितना उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत करतीहै। सभी सभासदों का एक सा जनकल्याणका दृष्टिकोण असंदिग्ध रूप से राष्ट्र को उन्नति की ओर ले जाता है। आज हमारे देश में, समस्त विश्व में इस भावना की और अधिक आवश्यकता है।"

(वैदिकसंग्रह, पृ० १७३)

भूमि हमारी माता है

"अथर्ववेद के भूमिसूक्त (अथ० १२।१) में पृथ्वी को माता तथा स्वयं को उसका पुत्र घोषित किया गया है। 'मातृभूमि' की धारणा का यह प्रथम उद्गार है। राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत इस सूक्त में विविधरूपा वसुन्धरा की अत्यन्त कृतज्ञतापूर्ण एवं मार्मिक शब्दों में स्तुति की गई है। वह विविध औषधि वनस्पतियों से सब प्राणियों का भरण-पोषण उसी प्रकार करती है जिस प्रकार कोई माता दूध से अपने शिशुओं का। भूमि अटल है, दृढ़ है, अपने शिशुओं केलिए सब कुछ सहन करतीहै। सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य प्रभृति महती दिव्य शक्तियाँ निरन्तर पृथ्वी की रक्षा करती हैं। पृथ्वी रत्नगर्भा है—प्राणी मात्र के लिए ऊर्जा का महान् स्रोत है। यह ऊर्जा और दृढ़ता मनुष्य को सतत दृढ़ और स्वतन्त्र रहने की प्रेरणा देती रहती है। इसे विश्वम्भरा और वसुधानी कहा गया है।

भूमि सबके लिये समान है, सबको समता का व्यवहार सिखाती है। इसीलिये पांचों (प्रकार के या पांचों दिशाओं में रहने वाले) मनुष्य उसके ही बताये गये हैं—**तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः** (अथ० १२।१।१५)।

बार-बार भूमि से प्रार्थना की गई है कि वह सब प्रकार की सुरक्षा प्रदान करे। आयु दीर्घ बनाए, धन-धान्य से सम्पन्न तथा औषधिरस, गोरस, जल आदि से समृद्ध होकर सभी प्राणियों को सुखी बनाये। कोई शत्रु इस पर आधिपत्य न कर सके। इसीलिये मातृभूमि का उपासक प्रण करता है कि मैं क्रोध करने वाले अन्य (शत्रुओं) को नीचे गिरा मारूँ—**अवान्यान् हन्मि दोधतः**। (वैदिक संग्रह, पृ. १९६-१७)

राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत वीरता की भावना वाले तथा मातृभूमि के यशोगान से परिपूर्ण इस भूमि-सूक्त में तिरेसठ मन्त्र हैं। यहां उसके प्रथम चौदह मन्त्र दिग्दर्शन-मात्र उद्धृत किये गये हैं।*

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

महान् सत्य, महान् ऋत, उग्रता अर्थात् क्षात्र-शक्ति, दीक्षा, तप, ब्रह्म-शक्ति और यज्ञ, ये सात पृथिवी को अर्थात् हमारे राष्ट्र को धारण कर रहे हैं। हमारे भूतकाल की और भविष्यत्काल की रक्षा करने वाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिए विस्तृत प्रकाश और स्थान करे।

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

जिसके गति निरोधक व्यवहारों को बन्धन और संयमन में लाने वाले मनु के पुत्र अर्थात् मनुष्य की बहुत प्रकार की उच्चतायें और समतायें हैं, जो अनेक प्रकार के वीर्य अर्थात् शक्ति और गुणों वाली ओषधियों को धारण करतीं हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये विस्तीर्ण होवे और हमारे लिए समृद्ध बने।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

जिसमें समुद्र और नदियां तथा अन्य विविध प्रकार के जल हैं, जिसमें अन्न होता है और अन्य अनेक प्रकार की खेतियें होती हैं अथवा मनुष्य मिलकर रहते हैं, जिसमें प्राण लेता हुआ तथा चेष्टा करता हुआ यह सब प्राणी जगत् चल रहा है अथवा अपने आपको तृप्त कर रहा है वह हमारी मातृभूमि हमको पूर्वपेय में अर्थात् पूर्वज पुरुषों द्वारा प्राप्त किये गये उक्त पद पर अथवा प्रथम पान करने योग्य दुग्धादि उत्तम पेय पदार्थों में धारण करे अर्थात् इनको प्रदान करे।

---

*विस्तार के लिए पढ़िये—'**वेद का राष्ट्रीय गीत**' आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति।

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ।।४।।

जिस हमारी मातृभूमि की चार विस्तीर्ण दिशायें हैं । जिसमें अन्न होते हैं, खेतियाँ होती हैं अथवा मनुष्य मिल कर रहते हैं, मिल कर उन्नति करते हैं, जो प्राणधारी और चेष्टाशील प्राणि-जगत् का अनेक प्रकार से भरण-पोषण करती है वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों में और भांति-भांति के अन्नों में धारण करे—इन्हें प्रदान करे ।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ।।४।।

जिसमें पहिले के पूर्वज पुरुष भांति-भांति के कर्म करते रहे हैं, जिसमें देव प्रकृति के पुरुष असुर प्रकृति के लोगों को अभिभूत पराजित करते रहे हैं, जो गौवों, का घोड़ों का और भांतिभांति के पक्षियों का विशेष रूप से रहने का स्थान है, वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये ऐश्वर्य और तेज को धारण करे ।

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ।।५।।

सबका भरण-पोषण करने वाली अथवा सबको अपने ऊपर धारण करने वाली, सब प्रकार के ऐश्वर्य को अपने में धारण करने वाली सब का आधार, सबको आश्रय और प्रतिष्ठा देने वाली, सुवर्ण को अथवा हितकारी और रमणीय पदार्थों को अपने वक्षःस्थल में रखने वाली सब जगत् को अपने में बसाने वाली अथवा कल्याण में प्रविष्ट कराने वाली सब लोगों की हितकारी अग्नि को अपने में रखने वाली इन्द्र अर्थात् चुना हुआ सम्राट् है अधिपति जिसका ऐसी वह हमारी मातृभूमि हमें बल और धन में धारण करे—इन्हें प्रदान करे ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ।।७।।

जिस विस्तार और ख्याति देने वाली मातृभूमि की सदा जागरूक

रहने वाले विविध व्यवहारों में कुशल विद्वान् प्रजाजन प्रमादरहित होकर रक्षा करते हैं वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये प्रिय मधु को दुहा करे—पूर्ण रूप से दिया करे और हमें तेज से सिक्त करे अथवा वृद्धि प्रदान करे।

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

जो पहले समुद्र में जल में थी जिसकी बुद्धिमान् लोग अपनी कौशलयुक्त बुद्धियों से सेवा करते हैं जिस हमारा विस्तार करने वाली और हमें ख्याति देने वाली हमारी मातृभूमि का अमर हृदय परम रक्षक और आकाश की भांति परम व्यापक परमात्मा में सत्य से ढका हुआ है वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में दीप्त तेज को और बल को धारण करे—प्रदान करे।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

जिसमें सेवक होकर चारों ओर बहने वाले जल दिन रात प्रमाद रहित होकर बह रहे हैं। अनेक धाराओं वाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये जल और दूध को दुहे, पूर्ण रूप से प्रदान करे और हमें तेज से सींचे और बढ़ावे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥१०॥

जिसको दोनों अश्वी मापा करते हैं या निर्माण करते हैं" विष्णु जिसमें विचरण करता है जिसको वाणी, कर्म और प्रज्ञा के धनी इन्द्र ने अपने लिये शत्रु-रहित कर रखा है वह हमारी मातृभूमि मुझ पुत्र के लिए अन्न, दूध और जल प्रदान करे।

इसी प्रकार—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

यत् ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो ऽहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

यो नो द्वेषत् पृथिवी यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

इत्यादि सभी मंत्रों में भूमि की अत्यन्त उदात्त शब्दों में स्तुति की गई है। उसका निष्कर्ष यही है कि भूमि सभी की समान रूप से माता है। इस पर रहने वाले प्राणियों को परस्पर भ्रातृभाव से प्रेमपूर्वक वास करना चाहिए।

राष्ट्रसर्वोदय

शुक्ल यजुर्वेद में से उद्धृत प्रस्तुत मन्त्र वेद के सर्वोदयात्मक सर्वांग-पूर्ण उदार दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। इसे वेद का 'राष्ट्रीय गीत' भी कहा जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिये जो कुछ भी मूलतः अपेक्षित है, उस सबकी अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। शारीरिक, बौद्धिक और प्राकृतिक—तीनों रूपों में समस्त राष्ट्र को समृद्ध होना चाहिये—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी
महा-रथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः,

पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाश्च
यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योग-क्षेमो नः कल्पन्ताम् ।।४३।।

(यजु० २२।२२)

हमारे ब्राह्मण-वर्ग में तप, त्याग और ज्ञान से सुशोभित जीवन वाले ब्राह्मण सदा होते रहें।

हमारे रक्षक (सैनिक) वर्ग में प्रभुत्वशाली, अस्त्रशस्त्र में अति-निपुण, (रिपु-दल के) महा-विनाशक सूरमे सदा होते रहें।

हमारे इस यजन-शील (समाज) में दुधारु-गौएं, (खूब हल आदि) खींचने वाले बैल, वेग-गामी घोड़े, गृह-धर्मिणी महिलाएं और विजय-शील, (शत्रुओं का) नाश करने वाले, युद्ध-प्रवीण वीर जवान सदा होते रहें।

जब-जब हमें चाहिए, मेंह (बराबर) बरसता रहे।
हमारी फल लदी खेतियाँ (खूब) पकती रहें।
हमारा सुख कल्याण (बराब) बढ़ता रहे।

प्राणीमात्र में मित्रदृष्टि

सब भूतों में व्यापक एक परमात्मा को मानने वाला और सब प्राणियों में अपने ही समान सुख-दुःख अनुभव करने वाला आत्मा विद्यमान है—इस तथ्य को जानने वाला व्यक्ति कभी किसी से घृणा नहीं करता और न ही कभी शोकग्रस्त व मोहग्रस्त होता है। आत्म दर्शी व्यक्ति के लिए भेद की सब दीवारें ढह जाती हैं और वह सब प्राणियों में एक ही आत्मतत्त्व के दर्शन करता हुआ सब में समभाव रखकर उद्घोष कर उठता है—

सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को

मित्रकी दृष्टि से देखूँ। हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें—

'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषो सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।। (यजु०३६।१८)

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गई है—

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः (अथ०१।३१।४)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि प्रभु हमारे दोपाये और चौपाये पशुओं के लिए कल्याणकारी और सुखदायी हो—

"शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।" (यजु० ३६।८)

इस प्रकार यहां दोपाये मनुष्य, पक्षी आदि तथा चौपाये पशुओं की कल्याण-कामना की गई है।

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थल पर कामना की गई है कि— भगवान्! ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ—

याँश्च पश्यामि याँश्च न
तेषु मा समितिं कृधि (अथ०।१७।१।७)

शान्ति मन्त्र (विश्वशान्ति)

मिल्टन ने कहा था 'शांति की विजय भी युद्ध की विजयों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वेद शांति के अग्रदूत बनकर हमारे सामने आते हैं और वहाँ भूमि, आकाश, सूर्य-चांद-तारे, बादल-बिजली, वन-उपवन-तरु-लता, नदी-पर्वत आदि प्रकृति की एक-एक वस्तु के आगे शांति की पुकार मचाई गई है। **शान्ति-प्रकरण**आर्यों के हवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। यहां इस विस्तार से बचने के लिए आर्यों द्वारा प्रत्येक आयोजन के अन्त में बोले जाने वाले **'शान्ति-मन्त्र'** से ही प्रस्तुत ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

ॐ द्यौ शान्तिर्, अन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्तिर्, आपः शान्तिर्, ओषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर् विश्वेदेवाः शान्तिर्, ब्रह्म शान्तिः, सर्व ँ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिरेधि ।।१।। (यजु०।३६।१७)

द्यौ शांति से युक्त है, अन्तरिक्ष शान्ति से युक्त है, पृथिवी शान्ति से युक्त है, जलधारायें शान्ति से युक्त हैं, ओषधियें और वनस्पतियें शान्ति से युक्त हैं, विश्वेदेव (संसार के विकास में लगी हुई विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक स्वरूप अलग-अलग दीखने वाले सब देवगण) शान्ति से युक्त हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म शान्ति से युक्त है, यहां जो कुछ भी है, वह सब शान्ति से युक्त है, यहां जिधर भी देखो उधर ही सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराज रही है। वह सर्वत्र व्याप रही शान्ति मुझे भी सदा प्राप्त होती रहे ।।

परिशिष्ट

॥ वैदिक-सूक्ति-शतकम् ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ-१०।८५।१)

सत्य से भूमि प्रतिष्ठित है।

सत्यं तातान सूर्यः (ऋ१।१०५।१२)

सूर्य सत्य को ही विस्तृत करता है। अर्थात् सत्य और प्रकाश में समानता है।

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।
तेन पूतिरन्तरतः (शत० ब्रा० २।१।२।१०)

अपवित्र है वह मनुष्य जो असत्य भाषण करता है। इसी कारण उसके भीतर से दुर्गन्ध उत्पन्न होती है।

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (ऋ० ८।८६।५)

ऋत के सींग संपूर्ण पृथ्वी पर फैले हुए हैं। अर्थात् सृष्टि के नियमों की सत्ता सर्वत्र फैली हुई है।

ऋतस्य पथि वेधा अपायि (ऋ० ६।४४।८)

सत्य के पथ में परमात्म[illegible] करते हैं।

ऋतस्य पन्थां न[illegible]तरन्ति दुष्कृतः (ऋ० ९।७३।६)

सत्य के [illegible]ार्ग को दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।

[illegible]ुगा ऋतस्य पन्थाः (ऋ० ८।३।१३।)

सत्य का मार्ग सुगम व सरल है।

सत्यमेव देवाः (शत० ब्रा० १।१।४)

सत्य ही देवता है।

सत्यमेव जयते नाऽनृतम् (मुण्ड० ३।१।६)

सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं।

श्रद्धया सत्यमाप्यते (यजु० १६।२०।)
श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (यजु० ४०।१७)
स्वर्णिम पात्र से सत्य का मुख छिपा रहता है।

एकः नमस्यो विक्ष्वीड्यः (अथ०२।२।१)
एक परमेश्वर ही प्रजाओं द्वारा नमन करने योग्य और स्तुत्य है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दो० ३।१३।१)
यह सारा (दृश्यमान जगत्) ब्रह्म ही है।

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः (अथ० ६।१०।१)
जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे मोक्षपद पाते हैं।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्कायदेयाम् (ऋ० ८।१।५)
हे ईश्वर! मैं तुझे किसी कीमत पर भी न छोड़ूं।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः (अथ० १०।८।४४)
उसी ब्रह्म व आत्मा को जान लेने पर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता।

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति (यजु० ३१।१८)
उसी परब्रह्म को जान कर मृत्यु से परे हो जाता है।

धन्वन्निव प्रपा असि (ऋ० १[illegible]१)
हे प्रभो! मरुदेश में तू प्याऊ की भा[illegible] है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् (ऋ० १०।[illegible]।२)
परमेश्वर ही यह सब है—जो उत्पन्न हुआ है और जो [illegible]ष्य में उत्पन्न होने वाला है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० १।१६४।४६)
एक ब्रह्म को ही मनीषीजन अनेक नामों से पुकारते हैं।

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि (ईश० १६)
जो वह परमपुरुष है, वही मैं हूं।

य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ।

(बृह० १।४।८)

जो आत्मा की ही प्रियरूप में उपासना करता है, उसके लिये कोई नश्वर वस्तु प्रिय नहीं होती ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः (कठ० २।२३)

यह आतमा प्रवचन से नहीं प्राप्त होता है ।

नाययात्मा बलहीनेन लभ्यः (मुण्ड० ६।२।४)

यह आतमा वलहीन के द्वारा प्राप्य नही है ।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथ० १६।३।६२)

मृत्यु हमसे दूर हो और अमृतपद हमें प्राप्त हो ।

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति (छान्दो० २।१३।१)

ब्रह्म में अपने को प्रतिष्ठित कर देने वाला व्यक्ति अमरता प्राप्त करता है ।

विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजु० ४०।१४)

विद्यया विन्दतेऽमृतम् (केन० २।३)

विद्या से अमरता प्राप्त करता है ।

प्रियाः श्रुतस्य भूयासम् (अथ० ७।६१।७)

हम सब वेद प्रेमी बनें ।

पवित्रवन्तः परिवाचमासते [illegible]० ६।७३।३)

पवित्रता के इच्छुक [illegible]द-विद्या का आश्रय लेते हैं ।

ब्रह्माहम[illegible] कृणवे (अथ० ७।१००:१)

मैं [illegible] को अपनी ढाल बनाता हूं ।

अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रूवाँसोऽनूनाचानास्ते मनुष्यदेवाः

(शत० ब्रा०२।२।२।६)

जो ब्राह्मण वेद सुनते और अध्ययन करते हैं वे मनुष्यों में देवता हैं ।

विद्वान् पथः पुर एतु ऋजु नेषति (ऋ० ५।४६।१)

विद्वान् पुरोगामी होकर सरल-सीधे मार्ग से—मनुष्यों का नेतृत्व करें।

सिंहा इव नानदति प्रचेतसः (ऋ० १।६४।८)
ज्ञानीसिंह के समान गरजते हैं।

मज्जन्त्यविचेतसः (ऋ० ०।६४।२१)
अज्ञानीजन डूब जाते हैं।

इयं ते यज्ञिया तनूः (यजु० ४।१३)
तेरा शरीर (प्रभुप्राप्ति रूप) यज्ञ के लिए है।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शत० ब्रा० १।७।१।३)
यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है।

यज्ञो विश्वस्य भुवस्य नाभिः अथ०९।१०।१४)
यज्ञ संपूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधने वाला नाभिस्थल है।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति (अथ० १२।२।३७)
यज्ञहीन का तेज नष्ट हो जाता है।

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् (अथ० १८।४।२)
यज्ञ करने वाले स्वर्गलोक (उत्तम गति) को प्राप्त करते हैं।

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते (ऋ० १।१२५।६)
हिरण्यदा अमृतत्त्वं भजन्ते (ऋ० १०।१०७।२)
दानी अमृतपद प्राप्त करते हैं।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्तं संकिर (अथ० ३।२४।५)
सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बिखेरो (वितरित करो)।

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः (ऋ० १०।१०७।२)
दानी द्युलोक में ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं।

केवलाघो भवति केवलादी (ऋ० १०।११७।६)
अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है।

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति (अथ० ६।६।२५)

वह पुरुष निष्पाप हो जाता है, जिसका अन्न दूसरे खाते हैं ।

पुरुषो वाव सुकृतम् (ऐत० २।३)

निश्चय ही मनुष्य सुन्दर रचना है ।

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शत० ब्रा० २।५।१।१)

मनुष्य प्रजापति से निकटतम है ।

काममय एवायं पुरुषः (बृह०।४।४।६)

यह पुरुष इच्छाओं का ही बना है ।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (शत० ब्रा० ८।७।२।१६)

कामनाओं के बाहर कुछ भी नहीं है ।

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजु० २६।४६)

हमारे शरीर पाषाण के समान दृढ़ हों ।

अदीनाः स्याम शरदः शतम् (ऋ० ७।६६।१६)

हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहें ।

विश्वमायुर्व्यश्नवै (यजु० १६।३७)

मैं संपूर्ण जीवन को भोगूं ।

यशः श्रीःश्रयतां मयि (यजु० ३६।४)

यश और ऐश्वर्य मुझ में हों ।

वयं तेषां श्रेष्ठाः अस्मि (अथ० १८।४।८८)

हम उन सब (मनुष्यों) में श्रेष्ठ हो जावें ।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (यजु० २।४३)

हम अपने देश में सावधान होकर पुरोहित (अगुआ) बनें ।

भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वप्नम् । यजु० ३०।१७

जागना ऐश्वर्यप्रद है, सोना (आलस्य) दरिद्रता का मूल है ।

न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम् ।

शत० ब्रा० ६।३।१।१४

अयुक्त मन से कुछ भी करना असंभव है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। अथ० ८।१।६

पुरुष तुझे आगे बढ़ना है न कि पीछे हटना।

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। अथ० ५।३०।८७

उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का धर्म है।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। अथ० २२।११।१

अपने समान लोगों से आगे बढ़ो और श्रेय को प्राप्त करो।

श्रीर्वै राष्ट्रम्। शत० ब्रा० ६।७।३।७

श्री ही राष्ट्र है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छान्दो० ७।२२

प्राचुर्य या निःसीमता में ही सुख है, अल्प में सुख नहीं।

अन्नं वै प्रजापतिः। प्रश्न० १।१४

निश्चय से अन्न प्रजापति है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। छान्दो० ७।२३।२

आहार शुद्ध होने पर सत्त्व शुद्ध होता है।

तपसा चीयते ब्रह्म [illegible]ण्ड० १।१।८

तप से ही ब्रह्म वृद्धि को [illegible]न होता है।

दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। [illegible]३।२।२५

तपस्वी तप से स्वर्गारोहण करता है।

तपोभिरदहो जरूथम्। ऋ० ७।१।७

तप के द्वारा बुढ़ापे को दूर रखो।

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋ० ४।३३।११

देवता परिश्रमी के अतिरिक्त किसी अन्य की सहायता नहीं करते।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। ऐत० ब्रा० ४।१७

श्रमहीन व्यक्ति की (शोभा, समृद्धि) नहीं होती।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः। यजु० ४०।२

इस संसार में (शुभ.) कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।

स नः पर्षद् अतिद्विषः। अथ० ६।३४।१
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् करे।

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु। अथ० १६।१६।१
सभी दिशाएं मेरे लिए शत्रु-रहित हों।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अथ० १६।१५।६
सब दिशाएं हमारे प्रति मित्रभाव से भरी हों।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः। ऋ० १।८८।१
हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें।

माता पृथिवी महीयम्। ऋ० १।१६४।४३
यह विस्तृत पृथ्वी हमारी माता है।

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
अथ० १२।१।[illegible]

पृथ्वी अलग-अलग भाषा-भाषियों तथा [illegible] नाना धर्मों वाले लोगों को घर की भांति धारण करती है।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि [illegible] समीक्षे। यजु० ३१।२४
मैं सभी प्राणियों को [illegible] की दृष्टि से देखूं।

न दुरुक्ताय [illegible]त्। ऋ० १।६१।६
अप[illegible] के लिए स्पृहा नहीं करनी चाहिए। अर्थात् अपशब्द का अ[illegible] नहीं आने देना चाहिए।

अनागसो हत्या वै भीमा। अथ० १०।१।२६
निरपराध की हत्या करना बड़ा भयंकर है।

बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै। ऋ० ४।१८।२
मुझे अनेक ऐसे कार्य करने हैं, जो किये नहीं गये—किसी से युद्ध करना है तो किसी से सीखना है।

परिमितं वै भतम् । अपरिमितं भव्यम् । ऐत० ब्रा० ४।६

जो हो चुका, वह ससीम है। जिसे होना है, वह असीम है।

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु । ऋ० ०।५।२।६

समाज में निन्दक लोग निन्दित हों।

अस्ति रत्नमनागसः । ऋ० ८।६७।७

निष्पाप लोगों को रत्न मिल कर रहता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अथ० १५।५।३

उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को गर्भ की तरह धारण करता है।

अशनाया वै पाप्मा मतिः । ऐत० ब्रा० २:२

भूख ही पापबुद्धि है। तु—"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"। हितो०

परोक्षप्रिया हि देवाः । ऋ. ३।१११

[illegible]ा अथवा विद्वान लोग परोक्षप्रिय होते हैं अर्थात् तात्कालिक सुख में न डूब कर भवि[illegible] का हित सोचते हैं।

सं वै गुरुभारः शृणाति [illegible] ब्रा. ४।१७

अधिक (कार्य-) भार (व्यक्ति [illegible]ण करता है।

मध्यमभयम् । शत. ब्रां. १।१।२।२

मध्यम मार्ग भयरहित है।

संग्रामो वै क्रूरम् शत. ब्रा. १।२।५।१६

युद्ध क्रूर होता है।

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति । शत. ब्रा. १।३।२।१६

वाणी से ही यह सब उत्पन्न होता है।

सर्वं वा इदमेति च प्रेति च । शत. ब्रा. १।४।१।६

जो कुछ आता है, वह सब जाता भी है।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।

ऋ० १०।१०।८

देवताओं के गुप्तचर, जो यहां विचरण करते हैं, कभी रुकते नहीं और न कभी पलक झपकाते हैं।

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति । (ऋ० १०।३३।९)

सौ आत्मा (जीवन शक्तियों) वाला भी देवताओं के विधान (ऋत) के विरुद्ध नहीं जा सकता।

मत्स्य एव मत्स्यं गिलति (शत० ब्रा० ९।८।१।३)

मछली ही मछली को निगलती है। —(मत्स्यन्याय)

न श्वः श्वमुपासीत । को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ।

(शत० ब्रा० [illegible]।३।९)

कल के भरोसे मत बैठो। मनुष्य का कल कौ[illegible]

अद्धा हि तद् यदद्य । अनद्धा हि तद[illegible]श्वः ।

शत. ब्रा. २।१।३।१।२८

आज निश्चित है, जो [illegible] है, वह अनिश्चि है।

अद्धा हि तदग्रकृतम् । अनद्धा हि तद् यद् भविष्यत् ।

शत. ब्रा. २।३।१।२५

जो कुछ हो चुका है, वह निश्चित है। जो होगा वह अनिश्चित है।

द्वितीयवान् हि वीर्यवान् । शत. ब्रा.३।७।३।८

साथी वाला ही बली है।

पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः । शत. ब्रा. ४।६।७।१

अभिमान ही पराभव या तिरस्कार का द्वार है।

यावज्जायां न विन्दते असर्वो हि तावद्भवति ।

शत. ब्रा. ५।२।१।१०

जबतक पत्नी नहीं पाता, तब तक अपूर्ण रहता है ।

ते ह घोरतरा अशान्ततरा ये उभयतो नमस्काराः ।

शत० ब्रा० १।१।२०

[illegible] के नमस्कार अधिक घोर तथा अधिक अशांत होते हैं ।

[illegible]णां कारणं बन्धमोक्षयोः । मैत्रा० ६।३४

[illegible]न और मोक्ष का कारण है ।

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण से पूर्ण लेने पर पूर्ण ही शेष रह जाता है ॥